वो क्या जाने पीर पराई

मनीषी प्रकाशक श्री सुभाषजी जैन

को मंगल भाव के साथ

[illegible]

15.2.91.

वो क्या जाने पीर पराई

मुनि रूपचन्द्र

मानव मंदिर मिशन
पश्चिम विहार, नई दिल्ली

माता श्री झमकू देवी, पिता श्री सीवराजजी, एवं ज्येष्ठ भगिनी श्राविका गणेशी देवी की पुण्य स्मृति में श्रीमान् मोतीलालजी कुचेरिया लाडनूं, राजस्थान, के अर्थ-सौजन्य से प्रकाशित।

प्रकाशक :
मानव मंदिर मिशन
374, भैरा एनक्लेव
पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110041

वितरक :
डायमण्ड पाकेट बुक्स
2715, दरियागंज
नई दिल्ली-110002

प्रकाशन वर्ष : 1991

मूल्य : पन्द्रह रुपये

मुद्रक : गोयल प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

आमुख

मैंने सुना है अमेरिका का धन-कुबेर रथचाइल्ड जब मरण-शय्या पर अन्तिम सांसे गिन रहा था, उस समय उसके एक मित्र ने उससे कहा—गरीब परिवार में जन्म लेकर वैभव के जिस शिखर पर आज आप खड़े हैं, वहां तक कोई महान् भाग्यशाली व्यक्ति ही पहुंच पाता है। प्रभु-कृपा से आपकी हर इच्छा पूरी हुई है। और आज जबकि आप इस संसार से विदा हो रहे हैं, मैं जानना चाहता हूं, आप अपने मन में कोई अधूरी इच्छा लेकर तो यहां से नहीं जा रहे हैं।

कहते हैं अपने मित्र से यह सुनकर रथचाइल्ड ने गहरा निःश्वास छोड़ा और बोले—मेरे मित्र, यह बिल्कुल सही है मेरे पर प्रभु की अपार कृपा रही। मैंने जो चाहा, वह मुझे मिला। जिसके पिता के पास पूरे दस डालर भी न हों, उसका बेटा दस अरब डालर का मालिक हो, इसे चमत्कार ही माना जाना चाहिए। इस अकारण कृपा के लिए मैं प्रभु का बहुत-बहुत आभारी हूं। अब रही इच्छाएं पूर्ण होने की बात, इसके बारे में मैं इतना ही कहना चाहता हूं, केवल एक इच्छा मैं अपने मन में लेकर जा रहा हूं। इस दस अरब डालर के ऊपर मैं एक बिन्दी और देखना चाहता था। मेरी बड़ी इच्छा थी कि सौ अरब डालर के मालिक के रूप में इस जगत से मैं विदा लूं। किन्तु यह इच्छा मैं अधूरी ही लेकर यहां से जा रहा हूं।

विज्ञान-युग का कोई रथचाइल्ड दस अरब डालर का मालिक होने पर भी एक और बिन्दी की अपूर्ण इच्छा लेकर ही इस धरती से प्रयाण कर देता है। मध्य युग का कोई सिकन्दर तीन-चौथाई धरती को जीत कर भी सम्पूर्ण विश्व-विजय का सपना आंखों में लिए ही संसार से विदा हो जाता है। महावीर युगीन कोई धनपति मम्मण रत्न-जटित स्वर्णमय बैलों की जोड़ी बनाने के लिए ठिठुरती सर्दी में रात्रि के समय

फटे चीथड़ों में लिपटे शरीर से नदी की धारा में बहते आ रहे लकड़ी के लट्ठों को खींचते-खींचते ही दम तोड़ देता है। पौराणिक युग का कोई ययाति अपने युवा पुत्रों का यौवन ले-लेकर एक सहस्र वर्ष पर्यन्त सांसारिक भोगों का आनन्द उठाते हुए भी अतृप्त और प्यासा रह जाता है।

आखिर कौन-सी है वह प्यास जो सर्वग्रासी ज्वालाओं की तरह इस जीवन की अनन्त रस-धारा को लील जाती है। कौन-सी है वह भूख जो अनन्त वैभव-सम्पदा से सम्पन्न इस जीवन को दीन, दरिद्र और दयनीय बना देती है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, वह माया है। भगवान बुद्ध कहते हैं, वह तृष्णा है। भगवान महावीर कहते हैं, यह अज्ञान मोह-जनित इच्छाओं का अनन्त विस्तार है, जिसका आकाश की तरह कहीं भी अन्त नहीं है—इच्छा हु आगास समा अणंतया—इच्छाएं आकाश की तरह अनन्त होती हैं।

छाया की तरह होती है माया

जब हम सूरज की ओर पीठ किये होते हैं, तब हम पीछे होते हैं, हमारी परछाईं आगे होती है। हम उस परछाईं को पकड़ने की या पीछे छोड़ने की लाख कोशिश करें, पर वैसा सम्भव नहीं हो पाता है। हम जितना दौड़ेंगे, परछाईं उतनी ही आगे सरक जाएगी। कोई उड़न परी पी० टी० उषा भी अपनी परछाईं को नहीं पकड़ सकती, उसे नहीं पछाड़ सकती।

छाया की तरह ही होती है माया, तृष्णा या इच्छाओं की उपस्थिति। उस परछाईं की तरह हम इसको जितना पकड़ने की कोशिश करते हैं, यह उतनी आगे सरक जाती है। हाथ में आकर भी यह हाथ में नहीं आ पाती है। यही कारण है कोई रथचाइल्ड, कोई सिकन्दर, कोई मम्मण, कोई ययाति इसे पाने के लिए उम्र-भर दौड़कर भी प्यासा ही रह जाता है। वह इस माया या तृष्णा का पार नहीं पाता है।

छाया से आगे निकलने का एक ही उपाय है, हम अपना मुख सूरज की ओर कर लें। जैसे ही हमने सूरज की ओर मुख मोड़ा, हम आगे हो जायेंगे, छाया पीछे रह जाएगी। ठीक ऐसे ही माया से मुक्त होने

के लिए हम अपना मुख परम ज्योति की ओर कर लें। हमने अपना मुख ज्यों ही इन्द्रिय-जगत से मोड़ा, आत्म-जगत से जोड़ा, माया स्वयं पीछे छूट जाएगी, हम उससे अपने को स्वयं ही आगे पाएंगे। केवल तभी हम उस प्यास से मुक्त हो सकेंगे, जो हमें उस अनन्त जीवन-रस-धारा से वंचित कर दीन, दरिद्र और दयनीय बना देती है।

समर्थ गुरु का महत्त्व, गद्दीधारियों का नहीं

गुरु का महत्त्व इसलिए बताया गया है कि वह शिष्य का मुख छाया से मोड़कर सूरज की ओर कर देता है। माया से मोड़कर ज्योति की ओर कर देता है। पर है यह किसी समर्थ गुरु से ही सम्भव। जब कि अधिकांश गुरु तो गद्दी चलानेवाले होते हैं। उनका प्रमुख काम होता है पंथ और समुदाय को चलाना। आस्था और समर्पण का उपयोग वे ज्योति के लिए नहीं, माटी के लिए करते हैं, साधना और सत्य के लिए नहीं, सम्प्रदाय और परम्परा के लिए करते हैं। समर्थ गुरु शिष्य का मुख जहां सत्य और ज्योति की ओर करता है, वहां ये गद्दीनशीन गुरु अपने अनुयायी का मुख पंथ और सम्प्रदाय की ओर कर देते हैं। परिणामतः शिष्य और अनुयायी के हाथ में अन्ध-विश्वास, अन्धी परम्पराएं एवं अन्धी मान्यताएं ही आ जाती हैं।

और मैं देख रहा हूं धर्म के नाम पर आज आदमी के हाथों में अन्ध-विश्वासों की हथकड़ियां हैं, पांवों में अन्ध-परम्पराओं की बेड़ियां हैं, आंखों पर अन्धी मान्यताओं की पट्टियां हैं और दिमाग के दरवाजे पर सम्प्रदाय का मजबूत ताला है। उसके होंठ अवश्य खुले हैं ताकि वह समय-समय पर उन अन्ध-विश्वासों, परम्पराओं, मान्यताओं और गद्दीधारी गुरुओं के जय-जय के नारे हवा में उछाल सके।

स्थिति यह है, आदमी के पास न अपने हाथ हैं, न अपने पांव हैं, न अपनी आंखें हैं और न ही है अपना दिमाग। वह जो भी करता है सम्प्रदाय के हाथों से करता है, वह चलता है तो सम्प्रदाय के पांवों से चलता है, वह देखता है तो सम्प्रदाय की आंखों से देखता है और वह सोचता है तो सम्प्रदाय के दिमाग से सोचता है।

उसके पास अपने हाथ नहीं, इसलिए उसका अपना कर्तृत्व भी नहीं,

अपने पांव नहीं इसलिए उसकी गति भी नहीं, अपनी आंखें नहीं इसलिए उसका अपना दर्शन भी नहीं, अपना दिमाग नहीं इसलिए उसकी अपनी सोच भी नहीं। उसी का परिणाम है हाथ होते हुए भी वह लूला है, पांव होते हुए भी वह पंगु है, आंखें होते हुए भी वह अन्धा है, दिमाग होते हुए भी वह लाचार बना हुआ है।

इसका एक ही कारण है, वह है पंथवाद या सम्प्रदायवाद। धर्म आदमी के भीतर सोई हुई अनन्त शक्तियों से पहचान कराता है, सम्प्रदाय सारी संभावनाओं को ही छीन लेता है। धर्म हाथों को कर्तृत्व देता है, सम्प्रदाय हाथ ही छीन लेता है। धर्म पांवों को गति देता है, सम्प्रदाय पांव ही छीन लेता है। धर्म आंखों को रोशनी देता है, सम्प्रदाय आंख ही छीन लेता है। धर्म दिमाग को प्रखर सोच देता है, सम्प्रदाय दिमाग ही छीन लेता है।

सद्गुरु पर दुहरा दायित्व

इन सारी स्थितियों में समर्थ गुरु पर दुहरा दायित्व आ जाता है। उसे एक ओर ज्योति और आनन्द की दिशा में मुख मोड़ने के लिए व्यक्ति की चेतना को माया, तृष्णा और मोह से मुक्त करना होता है, वहां दूसरी ओर गद्दीनशीन गुरुओं एवं पंथों, संघ-सम्प्रदायों की गिरफ्त से व्यक्ति और समाज को मुक्त करने के लिए उनसे निरन्तर जूझना पड़ता है। उन सम्प्रदायिक ताकतों को ललकारते हुए किसी कबीर को उद्घोषणा करनी पड़ती है—

> फूटी आंख विवेक की, लखै न संत असंत।
> जाके संग दस-बीस हैं, ताको नाम महंत॥

किसी गोरखनाथ को पूरी गुरु-शिष्य परम्परा पर चोट करते हुए कहना पड़ता है—

> ग्यान सरीखा गुरु न मिलिया, चित्त सरीखा चेला।
> मन सरीखा मेलू न मिलिया, तीथैं गोरख फिरै अकेला॥

इस ललकार की सजा भी उन्हे भुगतनी पड़ती है। किसी सुकरात को इसके लिए जहर का प्याला पीना पड़ता है, किसी मंसूर को सूली

पर चढ़ना पड़ता है, किसी आनन्द घन को समाज का अपमान/बहिष्कार झेलना पड़ता है। पर इन सबके बावजूद, समय साक्षी है, वही आवाज, केवल वही आवाज, सदियों-सदियों तक मानव-समाज के मन-मस्तिष्क मे एक गहरी गूंज छोड़ जाती है।

५१वें जन्म-दिन पर

अपने ५१वें जन्म-दिन पर समाज के हाथों में प्रस्तुत पुस्तक सौंपते हुए मुझे अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है। इसमें समाविष्ट लगभग सभी आलेख प्रवचन-शैली में लिखे गये हैं। इसलिए पाठकों को प्रवचन और निबन्ध मिश्रित शैली का स्वाद इस कृति में मिलेगा। पुस्तक की प्रमुख प्रयोजनीयता यही है कि व्यक्ति सम्प्रदाय से नहीं, धर्म से जुड़े, पंथ से नहीं, सत्य से जुड़े, माटी से नहीं, ज्योति से जुड़े और गुरु के नाम पर किसी व्यक्ति से नही, अपने खुद से जुड़े।

आदरणीया सरलमना साध्वी मंजुश्रीजी का अनेक बार आग्रह सामने आता रहा कि प्रवचन-शैली में कोई पुस्तक प्रकाश में आए। किन्तु इतना शीघ्र यह सम्भव केवल इसलिए हो सका, क्योंकि आदरणीया संघ-प्रवर्तिनी साध्वी मंजुलाश्रीजी की एक सजग सचेतक की तरह निरन्तर प्रेरणा रही। त्वरता तथा तत्परता आपका सहज स्वभाव है। फलस्वरूप यह पुस्तक इतनी जल्दी पाठकों के हाथों में पहुंच रही है। श्री मनक मुनि मेरे हर कार्य से जुड़े हैं ही।

हरी-भरी शिवालिक पहाड़ियों की गोद में, पांच धाराओं के मध्य, प्राकृतिक सौन्दर्य में सजे-संवरे पंचकूला नगर में वर्षावास-प्रवास तथा भावनाशील कर्तव्यपरायण हनुमान प्रसादजी प्रजापत का सुखद आवास भी इस पुस्तक-रचना में सहयोगी बने हैं। कर्मठ युवा कार्यकर्ता श्री सुभाष गोयल की भी अच्छी सेवाएं रही हैं। पुस्तक का प्रकाशन श्री मोतीलाल कुचेरिया के अर्थ-सौजन्य से सम्भव हो पाया है। श्रेयस् कार्य से जुड़े सभी हाथ प्रशंसनीय/अनुकरणीय होते हैं।

— मुनि रूपचन्द्र
२२ सितम्बर १९९०

अनुक्रम

मन बड़ा तो सुख बड़ा

मैंने सुना है एक बार स्वर्ग से एक फरिश्ता धरती-लोक पर उतर आया। भारत जैसे किसी विशाल देश के राष्ट्रपति के पास आकर वह बोला—'मैं भगवान के दरबार से आया हूं। भगवान ने मुझे दो पुड़िया दी हैं। एक है सुख की पुड़िया और दूसरी है दुःख की पुड़िया। आप इस देश के प्रथम नागरिक हैं। इसलिए भगवान का निर्देश है कि सबसे पहले एक पुड़िया मैं आपको दूं तथा अवशिष्ट पुड़िया पूरे देश को बांट दूं। अब आप जो पुड़िया लेना चाहें, लेने की कृपा करें।'

छोड़ें आप राष्ट्रपति को। कल्पना करें, वह फरिश्ता आपके पास ही आया है और आपसे अपनी मनपसन्द पुड़िया लेने का आग्रह कर रहा है। आप दोनों में से कौन-सी पुड़िया लेना पसन्द करेंगे ?

साधारणतया हर आदमी सुख की पुड़िया लेना चाहता है। दुःख की पुड़िया लेना कौन चाहेगा ? मैंने हजारों व्यक्तियों से यह सवाल पूछा होगा। सबका एक ही उत्तर मिला, उन्हें सुख की पुड़िया चाहिये। दुःख की पुड़िया चाहने वाला मुझे एक भी नहीं मिला। पर हमें समझना है सुख पाने की हमारी यह मानसिकता ही हमारे दुःख का बुनियादी कारण है। हम चाहते हैं सुख की पुड़िया हमें ही मिले। औरों को दुःख की

पुड़िया मिलती है, इसकी हमें चिन्ता नहीं। इतना ही नहीं, हमें इस बात का और अधिक सुख मिलता है कि सारा सुख हमारे ही पास है। औरों के पास केवल दुःख ही दुःख हैं। इस हालत में हमारा सुख हमें दुगुना प्रतीत होता है। एक, अपने सुख का सुख, दूसरे में, दूसरे के दुःख का सुख। एक अपने पास टेलिविजन होने का सुख, दूसरे में पड़ोस में किसी के पास टी० वी० न होने का सुख। अपने पास सुख की पुड़िया तथा औरों के पास दुःख की पुड़िया होने पर हम अपने को ज्यादा प्रसन्न और आनन्दित अनुभव करते हैं। यह मानना ही हमारी भूल है। यह मानना ही सबसे बड़े दुःख को निमन्त्रण देना है। क्योंकि यह सुख है ही नहीं, यह तो हमारा केवल भ्रम है और भ्रम का भंग होने पर हाथ में दुःख ही आता है, कभी सुख नहीं।

आप सोच, वह सुख की पुड़िया आपको मिल गई। दुःख की पुड़िया पूरे शहर को बांट दी गई। सुख आपको मिला और दुःख पूरे शहर को। क्या परिणाम होगा इसका? जहां हजारों परिवारों की आंखों में आंसू हों, वहां एक परिवार के होठों पर क्या हंसी ठहर सकती है?

इस चित्र का दूसरा पहलू लें। आप अपने लिए दुःख की पुड़िया मांग लेते हैं। सुख की पुड़िया स्वयं पूरे नगर को मिल जाएगी। जब नगर के हजारों परिवार जहां सुख मे हों, वहां क्या एक परिवार दुःख का जीवन जी सकता है? जहां हजारों होठों पर मुस्कान हो, क्या एक आंख में आंसू रह सकते हैं? न हजारों आंखों में पानी हो तो एक होंठ पर मुस्कान आ सकती है, और न हजारों होठों पर हंसी हो तो एक आंख में आंसू ठहर सकता है। किन्तु हमारा मन दुःख की पुड़िया लेने को फिर भी तैयार कहां होता है। वह चाहता है सुख की पुड़िया

मुझे ही मिले। औरों को चाहे दुःख मिले, मुझे सुख मिलना चाहिए। यह सुख चाहे क्षणिक हो, दुःख का ही कारण हो, फिर भी यह मन उस छोटे से सुख को भी त्यागना कहां चाहता है? उसी का परिणाम है आदमी के पास सुख-सुविधा के हजारों साधन उपलब्ध होने पर भी वह सुखी कहां है? जिसके पास कुछ न हो, अभाव-ग्रस्त हो, वह दुःखी हो, उसके दुःख का कारण समझ में आ सकता है। जिसके पास सब कुछ हो, सुख-सुविधा के साधन पग-पग पर उपलब्ध हों, वह भी अगर भयंकर तनाव और अशांति का जीवन जी रहा हो, तब सोचना जरूरी होता है कि आखिर दुःख का कारण क्या है? अगर गरीबी ही दुःख का कारण हो, अमीर दुःखी नहीं होना चाहिए। अगर अमीरी दुःख का कारण हो, गरीब दुःखी नहीं होना चाहिए। गरीब भी दुःखी है, और अमीर भी दुःखी है, इसका अर्थ इतना ही है कि दुःख का कारण कहीं ओर है।

मन छोटा, सुख छोटा

दुःख का वह कारण यह है कि हमारा मन छोटा है। हम चाहते हैं वह सुख की पुड़िया हमें ही मिले। इतना ही नहीं, जब हम यह चाहते हैं कि सुख की पुड़िया हमें मिले, उसी समय मन के किसी कोने में हम यह भी चाहते हैं कि सुख की पुड़िया अगर हमें न मिले तो वह पड़ोसी को भी न मिले। सुख की पुड़िया हमें न मिल कर अगर पड़ोसी को मिल जाती है तो वह दुःख भी हमारे लिए कम नहीं होता। पड़ोसी को सुख में देखकर आनन्दित होना तो बहुत दूर, हमारी छाती पर जैसे सांप ही लोटने लगता है। इस मनःस्थिति के विश्लेषण में हम यह भी पाएंगे, अपने सुख में हमें जितना सुख मिलता है, उससे ज्यादा सुख हमें पड़ोसी को दुःख में देखकर मिलता है। यही कारण है जब हम अपने लिए सुख की कामना करते हैं,

उसी समय भीतर गहरे में हम अपने पड़ोसी के लिए दुःख की कामना भी करते हैं। हम सुख नितांत अपने लिए ही चाहते हैं। उसमें किसी दूसरे को भागीदार नहीं बनाना चाहते। दुःख अगर कोई हमारे पर आ पड़ा है, हम चाहते हैं दूसरे सहानुभूति के लिए आएं। उस समय दूसरा सहानुभूति के लिये अगर न आए तो भी हमें दुःख होता है। यानि हम चाहते हैं दूसरे हमारे दुःख में भागोदार बनें। किन्तु सुख में ऐसा कौन चाहता है ?

कितना छोटा है हमारा मन। यहां हमें समझना है कि यह छोटा मन ही हमारे दुःख का प्रबल कारण है। हम चाहते हैं सुख, मिलता है दुःख, इसका प्रमुख उपादान यही है कि हमारा मन छोटा है। मन छोटा होगा, सुख भी छोटा होगा। मन बड़ा होगा, सुख भी बड़ा होगा। सुख और दुःख का राज यही है। अगर हम बड़ा सुख चाहते हैं, मन बड़ा बनाना ही होगा। सुख का पुड़िया छोड़ कर दुःख की पुड़िया स्वीकार करनी ही होगी। तब वह दुःख की पुड़िया भी सुख को पुड़िया बन जायेगी। शर्त यही है मन बड़ा बने।

चेतना का लक्षण है परस्पर सहयोग

हमारे ऋषि-मुनियों ने इस मन को विराट् बनाने के अनेक महत्वपूर्ण सूत्र हमें दिए। भगवान महावीर ने कहा— परस्परोपग्रहो जीवानाम् परस्पर उपग्रह, परस्पर उपकार, परस्पर प्रेमपूर्ण सहयोग ही जीवों का लक्षण है। हम सचेतन हैं। उस चेतना का लक्षण क्या है। महावीर कहते हैं परस्पर प्रीतिपूर्ण सहयोग ही उस चेतना का लक्षण है। अगर वह प्रेम-निर्झर भीतर में नहीं बह रहा है तो हमारा पूरा अस्तित्व ही गड़बड़ा जाएगा। हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व का संगीत प्रेम-वीणा की सम-

स्वरता पर ही मुखरित हो रहा है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की काव्य-भाषा में—

प्रीति-प्राण से
गन्ध-गान से
ज्योति-पुलक से
अखिल अवनि-अम्बर-तल को परिप्लावित करके
बरस रहा है देव, तुम्हारा अमिय निरन्तर,

प्रीति प्राण से, प्रेम-आप्लावित हाथों से सम्पूर्ण सृष्टि पर अमृत निरन्तर बरस रहा है और हम हैं कि उस प्रेमपूर्ण अस्तित्व को समझे बिना अमृत के लिए एक अंधी दौड़ दौड़े जा रहे हैं।

यह ठीक है जीवन के इस मैदान में हर किसी को दौड़ तो दौड़ना ही है। वह दौड़ कैसे दौड़ें, जय-पराजय का सारा राज इसी में छिपा है। जिसने उसका राज जान लिया, वह हारकर भी जीत जाता है। जिसने उस राज को नहीं जाना, वह जीत कर भी हार जाता है। महावीर कहते हैं, तुम उस दौड़ को परस्पर उपग्रह से, परस्पर सहयोग से, उपकार और प्यार से दौड़ो। दौड़ में यह स्वाभाविक है कि हर कोई सबसे आगे निकलना चाहता है। दौड़ में शामिल हर धावक की इच्छा होती है कि वह प्रथम स्थान पर रहे। महावीर कहते हैं तुम अपनी योग्यता से, अपने शक्ति-सामर्थ्य से प्रथम स्थान के लिए दौड़ो, इसमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु याद रखो, दूसरा कोई अपने शक्ति-सामर्थ्य के बल पर दौड़ में आगे जाता है, उसे टांग लगा कर गिराने की चेष्टा मत करना। अपने शक्ति-सामर्थ्य के अभाव में दूसरे को गिरा कर, दूसरे को कुचल कर प्रथम आने की कोशिश मत करना। ऐसा करने पर तुम प्रथम आ भी गए तो भी तुम्हें जीत का आनन्द नहीं मिल

पाएगा। वह जब भी भीतर में पराजय जैसा कष्ट देगी। इतना ही नहीं, महावीर इससे भी आगे की बात कहते हैं। वे कहते हैं, गलत तरीके से किसी को पीछे छोड़ने की कोशिश तो करना ही मत, किन्तु अगर कोई पीछे छूट रहा हो, उसे भी साथ लेने की कोशिश करना। अपनी ओर से किसी को पछाड़ना है ही नहीं, किन्तु जो पिछड़ रहा है, उसे भी साथ लेने के लिए एक क्षण ठहर जाना।

आप कहेंगे, फिर दौड़ का अर्थ ही क्या है? अगर हम ठहर कर पिछड़ने वाले को साथ लेते रहेंगे, उस दौड़ का फिर प्रयोजन ही क्या है? क्योंकि वहां तो सारी होड़ ही समाप्त हो जायेगी। होड़ ही खत्म हो गई; तो दौड़ किसलिए? बिल्कुल सही है यह कि होड़ खत्म तो दौड़ किसलिए? पर हमें यह भी समझना है कि होड़ खत्म होने के साथ दौड़ खत्म हो जाएगी और दौड़ खत्म होने के साथ ही मंजिल स्वयं मिल जाएगी। फिर मंजिल तक हमें नहीं जाना होगा, मंजिल स्वयं हमारे कदमों तक सरक आएगी। मंजिल के लिए दौड़ होती है। जब दौड़ ही नहीं तो मंजिल कैसी? होड़ नहीं तो दौड़ नहीं। दौड़ नहीं तो मंजिल नहीं। फिर पाने जैसा कुछ रह नहीं जाता। हर कदम अपने में मंजिल है। फिर जय-पराजय जैसा कोई भी भाव नहीं रह जाता है। क्योंकि उस दौड़ के साथ होड़ जो नहीं है।

ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में, चीन का महामनीषी लाओत्से एक बार अपने देश के सभी पहलवानों को मल्ल-युद्ध के लिये चुनौती देता है। लोग उसकी चुनौती पर हंसते हैं। किन्तु उसकी मेधा के प्रति वे नत-मस्तक भी हैं। जानते हैं वे कि इसकी चुनौती में कोई रहस्य है। आखिर वे लाओत्से से पूछ लेते हैं कि शरीर से इतने दुर्बल हैं आप कि राह चलता कोई

भी व्यक्ति आपको नीचे गिरा दे। और आपने चुनौती दी है देश के नामी-गरामी पहलवानों को। क्या एक धक्के से ही आप चित्त नहीं हो जायेंगे? लाओत्से ने हंसते हुए कहा—उनको कोई अवसर देगा, तभी तो वे मुझे चित्त करेंगे। मैं उनको ऐसा कोई मौका ही नहीं दूंगा। मैं पहले ही चित्त लेट जाऊंगा। फिर कौन मुझे मल्ल-युद्ध में पछाड़ेंगे। चुनौती है तो होड़ है, प्रतिद्वन्द्विता है। जहां चुनौती ही समाप्त है, वहां कैसी होड़ और कैसी दौड़। क्योंकि वहां हर कदम के साथ स्वयं मंजिल जुड़ी है। इसीलिए महावीर कहते हैं, तुम मंजिल की चिन्ता छोड़ो, दौड़ की भी चिन्ता छोड़ो, प्रथम स्थान पाने की भी चिन्ता छोड़ो। वे चिन्तन करने लायक बिन्दु हैं ही नहीं। चिन्तन यह करना है कि तुमसे कोई पिछड़ तो नहीं रहा है। तुम्हें किसी को पछाड़ना तो है ही नहीं। कोई पिछड़ भी रहा है, तो दो क्षण अपने कदम रोककर, उसे साथ में ले लेना है। पारस्परिक सहयोग से ही कदम आगे बढ़ाना है। पारस्परिक सहयोग, प्रीतिपूर्ण चित्त से उठा हुआ हर कदम अपने में मंजिल होता है। प्रेम-भीना हर पग मंजिल से ज्यादा आनन्द देने वाला होता है। इसीलिए कहा गया—परस्परोपग्रहो जीवानाम्—जीव का लक्षण है परस्पर उपग्रह, परस्पर प्रेमपूर्ण सहयोग। जीव का ही नहीं, जीवन का भी यही लक्षण है।

पारस्परिक सहयोग से श्रेयस् की प्राप्ति

श्रीमद्‌भगवद् गीता भी इस विचार को बहुत वजनदार शब्दों में समर्थन देती है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

देवान भावयतानेन, ते देवा भावयन्तु वः

परस्परं भावयन्तः, श्रेयः पर मवाप्स्यथ,

तुम देवताओं का पोषण करो। वे देव तुम्हारा पोषण करें। परस्पर एक दूसरे का पोषण करते हुए तुम परम श्रेयस्

को प्राप्त करो। इस श्लोक के सन्दर्भ में यज्ञ का प्रसंग है, तुम यज्ञ के द्वारा देवताओं का पोषण करो। देव अपनी करुणा-कृपा से तुम्हारा पोषण करें। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का पोषण करते हुए परम श्रेयस् को प्राप्त करें। महात्मा गांधी अपनी अनासक्ति-योग पुस्तक में इस श्लोक के अनुवाद-टिप्पण में देव और यज्ञ शब्द से एक महत्वपूर्ण अर्थ की ओर इशारा करते हैं। गांधीजी कहते हैं—यहां देव का अर्थ है भूत-मात्र, ईश्वर की सृष्टि। भूतमात्र की सेवा देव-सेवा है, और वह यज्ञ है। देव यानि प्राणिमात्र, यज्ञ यानि सेवा। इसका अर्थ हुआ तुम प्राणि-जगत की सेवा करो। वे प्राणी तुम्हारी सेवा करें। परस्पर एक-दूसरे को भावित करते हुए परम श्रेयस् को प्राप्त हों। परस्पर-उपग्रह कहें या परस्परं भावयन्तः कहें, बात एक ही है। वही बात महावीर कह रहे हैं और वही बात गीता कह रही है। पूरे पूर्व ने यही कहा है। पूर्व की जीवन-दृष्टि का आधार भी यही है। इसी जीवन-दृष्टि ने पूर्व को अभी तक टूटने से बचाए रखा है। हजारों प्राकृतिक आपदाओं, विदेशी आक्रमणों, अज्ञान, गरीबी और अभावों के बावजूद यह देश जीवन के प्रति इस अनन्त आस्था के कारण अपनी ही मस्ती में जीता रहा है।

बुलन्दी से भी गुजरा हूं, और पस्ती से भी गुजरा हूं
मगर जिस राह से गुजरा हूं, बड़ी मस्ती से गुजरा हूं,

हर कठिनतम परिस्थिति में हमारी आस्था ने यही गाया—सभी सुखी हों। सभी निरामय हों। सभी का कल्याण हो। किसी को भी दुःख न मिले। इसी विराट आस्था ने पूर्व के जीवन को कभी क्षुद्र मानसिकता की गुंजलिका में उलझने नहीं दिया।

पश्चिम का आधार है प्रतिस्पर्धा

किन्तु आज पूर्व का जीवन भी दिन-प्रतिदिन अधिक जटिल, अधिक तनाव और अशांति-ग्रस्त होता जा रहा है। इधर वैभव-समृद्धि बढ़ती जा रही है, उधर मानसिक तनाव और रुग्णता बढ़ती जा रही है। कारण एक ही है। पूरब अपनी जीवन-दृष्टि खोता जा रहा है। जीवन के प्रति उसकी आस्था खत्म होती जा रही है। जीवन का हर क्षेत्र सहयोग से नहीं, प्रतिस्पर्धा से जुड़ गया है। पश्चिम की इस प्रतिस्पर्धा-परक दृष्टि ने पूरब को भौतिक दृष्टि से समृद्ध चाहे बनाया हो, मानसिक दृष्टि से वह दरिद्र ही होता जा रहा है।

पूरब की दृष्टि है सहयोगमूलक, पश्चिम की दृष्टि है प्रति-स्पर्धामूलक। पूरब की समृद्धि का आधार रहा परस्पर सह-योग। पश्चिम ने समृद्धि का आधार प्रतिस्पर्धा को बनाया। 'कम्पिटीशन इज द लॉ ऑफ् प्रोस्पेरिटी'—यह पश्चिम का मोटो है। पूर्व और पश्चिम की दृष्टि में यही मौलिक अन्तर है। प्रतिस्पर्धा में दौड़ तो तेज होती है, पर पहुंचना कहीं नहीं होता है। प्रतिस्पर्धा में आप दौड़ते रहें उम्र-भर, पर पहुंचेंगे कहीं नहीं। क्योंकि वहां मंजिल होती ही नहीं। परस्पर प्यार और सहयोग में हर कदम पर मंजिल है। प्रतिस्पर्धा और प्रति-द्वन्द्विता में आप मंजिल समझकर जहां पहुंचने की कोशिश कर रहे हैं, वहां पहुंचकर पायेंगे कि मंजिल अभी और आगे है। इस प्रकार हर बार मंजिल पर पहुंचकर भी मंजिल हाथ नहीं आती, सिर्फ सिफर हाथ आता है। हर बार आप दौड़ में सर्व-प्रथम आकर भी सबसे पीछे अपने को पाते हैं। लाओत्से के शब्दों में—दोज हू स्टैण्ड फर्स्ट, आर लास्ट, दोज हू स्टैण्ड लास्ट, आर फर्स्ट। इस दौड़ में जो प्रथम हैं, वे अन्तिम हो जाते हैं। दौड़ में जो अन्तिम हैं, वे प्रथम हो जाते हैं। क्योंकि यह गोलाकार है। इस गोलाकार दौड़ में घुमावदार मोड़ आते ही जो आगे होता

है, वह पीछे हो जाता है और जो पीछे होता है, वह आगे हो जाता है। और दौड़ क्योंकि गोलाकार है, इसलिए इसका कहीं अन्त तो है ही नहीं। जिसे मंजिल मानकर आप दौड़ रहे हैं, वहां पहुंचते-पहुंचते मंजिल उतनी ही आगे और सरक जाती है।

फिर आपको जब यह लगता है, कि मैं सबसे आगे दौड़ में नहीं हो सकता। कोई दूसरा है जो दौड़ में आपसे आगे जा रहा है। तब आपकी यह कोशिश होती है उसे कैसे पछाड़ा जाए। कोई ऐसा उपाय, सही या गलत किया जाए, जिससे वह आगे न जा सके। टांग लगाकर या लट्टी में उलझा कर उसे गिराने की हर कोशिश होती है। परस्पर उपग्रह-सहयोग में जहां स्वयं आगे बढ़ने तथा दूसरों को भी आगे बढ़ाने की ललक रहती है, वहां प्रतिस्पर्धा में, अगर मैं आगे न बढ़ सकूं तो दूसरा भी न बढ़े, की भावना प्रधान होती है। इसी ईर्ष्या-भावना में वह प्रतिस्पर्धा को सदा के लिए अपने रास्ते से हटा देना चाहता है। हर व्यक्ति अपने प्रतिस्पर्धी को फलता-फूलता तो देखना चाहता ही नहीं, उसे पूरी तरह से मिटा देना चाहता है। परिणामतः प्रतिस्पर्धी दौड़ते कम हैं, आपस में एक-दूसरे को मिटाने में ज्यादा लगे हैं।

जहां प्रतिस्पर्धा है, वहां नफरत है, ईर्ष्या है, प्रतिशोध है, हिंसा है। जहां सहयोग है, वहां प्रेम है, कृतज्ञता है, प्रमोद-भाव है, अहिंसा है। प्रतिस्पर्धामूलक जीवन-दृष्टि में तनाव पहले क्षण से है। मैं आगे कैसे जाऊं? दूसरा यदि आगे जा रहा है तो उसे कैसे रोकूं? इन्हीं चिन्ताओं में न वह स्वयं सुख से जीता है, न औरों को जीने देता है। परस्पर सहयोग-मूलक दृष्टि में तनाव है ही नहीं। हम भी सुख से जियें, दूसरे भी सुख से जियें। हम भी फलें-फूलें, दूसरे भी फलें-फूलें। दूसरों के सुखपूर्वक जीने में हम सहयोगी-सहभागी बनें। हमारे

सुखपूर्वक जीने में, दूसरे सहयोगी सहभागी बनें। पूरब की इसी प्रीतिपूर्ण सहयोग-मूलक दृष्टि ने जीवन को सदा सुख के शिखरों पर रखा। पश्चिम की इसी प्रतिस्पर्धामूलक दृष्टि ने जीवन को सदा भय और विनाश के कगारों पर ला खड़ा किया है। आज खेद इस बात का है, पूरब अपनी जीवन-दृष्टि खोता जा रहा है। यही कारण है तनाव, अशांति, विक्षिप्तता, पागलपन, अनिद्रा जैसे मानसिक रोग पूरब मे भी बढ़ते जा रहे हैं।

हम अपनी जीवन-दृष्टि पा लें, सुख ही सुख है, चाहे सुख के साधन न भी हों। अगर जीवन-दृष्टि को खो दिया, दुःख ही दुःख हैं, चाहे सुख के सारे साधन उपलब्ध हों। महत्वपूर्ण जीवन-दृष्टि है, साधन नहीं। सुख-दुःख जीवन-दृष्टि से जुड़े है, साधनों से नहीं।

बंधन भीतर है, बाहर नहीं

महात्मा जी उस नगर में पहली बार आए थे। शाम को घूमने के लिए निकल पड़े। नगर के बाहर एक विशाल मंदिर का निर्माण हो रहा था। स्वामीजी ने देखा, सैंकड़ों मजदूर मंदिर-निर्माण में लगे हैं।

एक सवाल स्वामीजी के मन में कौंधा। वे एक मजदूर के पास गये और बोले—भाई, क्या कर रहे हो? मजदूर पत्थर तोड़ रहा था। आवाज सुनकर उसने सिर ऊपर उठाया, देखा सामने एक स्वामीजी खड़े हैं। वह खीजता हुआ-सा बोला—'क्या कर रहा हूं, मुझे पूछ रहे हैं, क्या आपको नहीं दिखता? भगवान ने आपको दो आंखें दी हैं। आप अन्धे तो नहीं। बिल्कुल साफ है कि पत्थर तोड़ रहा हूं, इसमें पूछने की बात ही क्या है? उसका पत्थर-तोड़ उत्तर सुनकर स्वामीजी मुस्कराते हुए आगे बढ़ गये।

चालीस-पचास कदम पर फिर किसी मजदूर के पास पांव रोके। उससे भी फिर वही सवाल पूछा—भाई, क्या कर रहे हो? वह भी पत्थर तोड़ रहा था। उसने सवाल सुनकर स्वामी जी को माथा नमाया। फिर बुझे हुए स्वर में बोला—महाराज, पत्थर तोड़ रहा हूं, पेट पाल रहा हूं। अपनी व्यथा-कथा सुनाते हुए कहने लगा, परिवार में पांच प्राणी हैं। दिन-भर मजदूरी करने पर केवल दस रुपये मिलते हैं। महंगाई का जमाना। एक

कमानेवाला तथा पांच खाने वाले। आप ही सोचें, गाड़ी चले तो कैसे चले ? पता नहीं, भगवान ने शरीर के साथ यह पेट क्यों बांध दिया, जो कभी भरता ही नहीं। सुबह भरो, शाम को खाली, शाम को भरो, सवेरे खाली। उम्र-भर भरते रहो, पर यह तो खाली-का-खाली। महाराज, बहुत मजबूर हूं। लगता है यह पेट नहीं है, कुदरत का अभिशाप है। जिसे हम गरीबों को उम्र-भर भोगना है। यह कहते-कहते उसकी आंखें डबडबा आई।

पहले मजदूर का उत्तर आक्रोश और खीज-भरा था, दूसरे का उत्तर था विवशता और मजबूरी से भरा हुआ। महात्माजी मन्द-मन्द कदमों से फिर आगे बढ़ गये।

थोड़े ही फासले पर एक और मजदूर से फिर वही सवाल पूछा—भाई, क्या कर रहे हो ? मजदूर ने स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम किया। अत्यंत उल्लास और आनन्द के स्वरों में बोला—महात्मा जी, लगता है मेरी इस ढलती उम्र में पुण्य-प्रभात का उदय हुआ है। मजदूरी तो उम्र-भर की। नेताओं के बंगले बनाये, सेठों की कोठियां बनाई, राजाओं के महल भी खड़े किए। किन्तु इस बार मेरे आनन्द का कोई पार नहीं। मेरे जैसे अदने व्यक्ति के हाथों से भगवान का मंदिर बन रहा है। इससे अधिक पुण्य-घड़ी मेरे लिए और क्या होगी ? यह कहते-कहते वह जैसे खुशियों से नाचने लगा। यद्यपि वह मजदूर भी पत्थरों को ही तोड़ रहा था।

स्वामीजी के मन में विचारों का मंथन चलने लगा। बाहर से तीनों मजदूरों की स्थिति एक समान है। तीनों ही पत्थर ही तोड़ रहे हैं। किन्तु भीतर से एक गुस्से और खीज भरा है, दूसरा विवशता और मजबूरी से भरा, तीसरा खुशियां और आनन्द से भरा है। बाहर से सारे एक ही भूमिका पर खड़े हैं।

भीतर में एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत भूमिका पर खड़े हैं। किन्तु सवाल उन मजदूरों का नहीं, हमारा भी है। इस जीवन के रूप में हमें भी एक मंदिर मिला है बनाने के लिए। इस मंदिर को हमें खुद बनाना है। मंदिर के निर्माण के लिए हममें से किसी को पचास वर्ष का समय मिला है, किसी को साठ वर्ष का, किसी को सत्तर और अस्सी वर्ष का। इतने लम्बे समय तक हम मंदिर बनाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। चाहे हम इसे खीजे हुए मन से बनाएं, चाहे बुझे हुए मन से बनाएं चाहे मजबूरी में रोते-रोते बनाएं, चाहे आनन्द में नाचते-गाते बनाएं, जिसको भी जीवन मिला है, उसे इस मंदिर को बनाना है। उस मंदिर-निर्माण में बाहर से सबको एक-समान रूप से पत्थरों को ढोना है। बाहर से हम उन मजदूरों की तरह एक ही भूमिका पर खड़े हैं। अब टटोलना है अपने को भीतर से, कि हमारे में से कौन किस भूमिका पर खड़ा है। फर्क भीतर में ही आने वाला है, बाहर में नहीं।

कैसा है जीवन और जगत ?

यह अन्तर हमारी अपनी दृष्टि से ही आएगा। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों, मनीषी-चिन्तकों ने इस जीवन और जगत की बड़ी-बड़ी व्याख्याएं दी हैं। किन्तु संक्षेप में जीवन और जगत को यदि समझना चाहें, तो कहा जा सकता है, यह जीवन वैसा ही है, जैसा हम इसे जीते हैं। यह जगत वैसा ही है जैसा हम इसे देखते हैं। या यों समझें कि वह हमारे लिए वैसा ही है। औरों के लिए वह वैसा हो, यह जरूरी नहीं है। पत्थर ढोने का एक ही कार्य किसी के लिए रोष और खीज का कारण हो सकता है, किसी के लिए विवशता और मजबूरी का कारण हो सकता है, किसी के लिए आनन्द और उल्लास का। यह हमारे पर निर्भर है कि हम इसे किस रूप में लेते हैं। अगर हम जीवन

और जगत को आनन्दमय देखते हैं, सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द मिलेगा। हम जीवन और जगत को दुःखमय और यातनापूर्ण देखते हैं, हमको सर्वत्र दुःख-ही-दुःख, यातना-ही-यातना मिलेगी। प्रश्न यह नहीं है कि कैसा है जीवन और जगत? प्रश्न यह है कैसी है हमारी ग्रहण-दृष्टि। जैसी है हमारी ग्रहण-दृष्टि, यह सृष्टि भी हमारे लिए वैसी ही है।

जनक के राजदरबार में जब श्री राम शिव-धनुष को प्रत्यंचा पर चढ़ा रहे हैं, दरबार में उपस्थित जन-समूह श्री राम को उस समय अपने-अपने ढंग से देखता है। कोई उन्हें एक धीर-वीर युवा के रूप में देखता है, तो कोई उन्हें शिव-धनुष की ओर बढ़ते देखकर, उनका बचपना मानते हुए हंस रहा है। किन्तु मां सीता के हृदय में उनका ज्योतिमय भगवत्-स्वरूप ही अवतरित होता है। इन्हीं विविध दृष्टियों का आकलन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी॥

जिस-जिसकी, जैसी-जैसी भावना थी, उन्होंने वैसे-वैसे प्रभु की मूरत को देखा।

भगवान महावीर इसीलिए सबसे अधिक बल सम्यग्-दर्शन पर देते हैं। सम्यग्-दर्शन का सीधा-सा अर्थ है, हमारी दृष्टि सही हो। दष्टि सही होने से ही ज्ञान सही हो सकेगा। जगत जैसा है, वैसा ही रहेगा। उसमें कोई फर्क नहीं आने वाला है। कैसा है यह जगत, इसका उत्तर जानने से पहले यह जान लें, कैसी है हमारी दृष्टि? यही स्थिति जीवन की है।

यह जिन्दगी
वैसे तो

बहुत ही खूबसूरत है,
पर इसको
जरा ठीक से
समझने की जरूरत है,
अगर नहीं समझे
तो है यह शैतान का मंदिर,
समझ गए
तो यही बस
भगवान की मूरत है,

यह जिन्दगी शैतान का मंदिर भी हो सकती है और भगवान का मंदिर भी। यह हमारे पर है हम इसे किसका मंदिर बनाते हैं। शैतान भी हमारे भीतर है। भगवान भी हमारे भीतर है। राम भी हमारे भीतर हैं, रावण भी हमारे भीतर हैं। महावीर भी हमारे भीतर हैं, गोशालक भी हमारे भीतर हैं। कृष्ण भी हमारे भीतर हैं, कंस भी हमारे भीतर है। जीसस भी—हमारे भीतर है, जुड़ास भी हमारे भीतर है। जब भीतर का शैतान जागता है, रावण, कंस, गोशालक और जुड़ास जाग जाते हैं। जब भीतर का भगवान जागता है, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और जीसस जाग जाते हैं। किसे जगाना है यह हमारी दृष्टि पर निर्भर है। हमारी दृष्टि शैतान पर है, शैतान जागेगा। हमारी नजर भगवान पर है, भगवान जागेगा।

अपनी दृष्टि को बदलना जरूरी

लगभग हमारी स्थिति यह है, हम अपने को बदलना नहीं चाहते। पड़ोसी को बदलना चाहते हैं, समाज को बदलना चाहते हैं, सरकार को बदलना चाहते हैं, किन्तु खुदको बदलना नहीं चाहते। जबकि यह भी साफ है कि हमारे चाहने से पड़ोसी नहीं बदलने वाला है, न समाज और व्यवस्था बदलने वाली

है। चाहे कितना ही कोसते रहें हम पड़ोसी को, समाज को और सरकार को। उससे कोई फर्क पड़नेवाला नहीं है। अगर हम सचमुच में चाहते हैं कि औरों में बदलाव आए तो उसका सीधा-सा उपाय है हम स्वयं बदल जाएं—

औरों को
बदलने के लिए
खुद को बदलना सीखें,
शंकर
बनना हो अगर,
विष-घूंट निगलना सीखें,
उजाले की परिभाषा
न मिलेगी
किताबों में तुम्हें,
उसे पाने के लिए
खुद
दीपक बन जलना सीखें,

यह एक सुनिश्चित मत है, हम बदलें, सब कुछ अपने आप बदल जाएगा। क्योंकि हमारे अपने बदलते ही हर चीज का संदर्भ बदल जाएगा। संदर्भ बदलते ही अर्थ बदल जाएगा। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के दो शिष्यों में विवाद हो गया। एक कहता—तुमसे बड़ा मैं हूं। दूसरा कहता, तुमसे बड़ा मैं हूं। एक संन्यास-दीक्षा में ज्येष्ठ था तथा दूसरा ज्ञान में। विवाद का हल पाने के लिए दोनों स्वामीजी के पास पहुंचे। अपने-अपने तर्क रखे और स्वामीजी से निर्णय देने के लिए निवेदन किया। स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा—जो दूसरे को बड़ा माने, वह बड़ा। हम थोड़ा-सा ध्यान देंगे, स्वामीजी ने क्या कहा? स्वामीजी ने कहा—जो दूसरे को बड़ा माने, वह है बड़ा।

अब तुम ही सोच लो, तुम्हारे में कौन बड़ा है। स्वामीजी का निर्णय दोनों ने सुना। अब दोनों एक-दूसरे को बड़ा कहने लगे। जो दीक्षा में, संन्यास में ज्येष्ठ था, वह कहने लगा—माथा मुंड़ाने से क्या होता है। महत्त्वपूर्ण है ज्ञान। आपने मेरे से शास्त्र ज्यादा पढ़े हैं। आप शास्त्रज्ञ हैं। आप प्रभावशाली प्रवचनकार हैं। आप हैं मेरे से बड़े। दूसरा बोला – शास्त्र पाठ से क्या होता है। एक साधनाहीन व्यक्ति भी बड़े-से-बड़ा विद्वान हो सकता है, प्रखर वक्ता हो सकता है। पर उससे क्या? महत्त्व साधना का है। आप साधना में मेरे से ज्येष्ठ हैं, इसलिए आप बड़े हैं। इतनी देर दोनों 'मैं बड़ा हूं' के लिए झगड़ रहे थे, अब दोनों 'आप बड़े हैं' के लिए झगड़ने लगे। किन्तु दोनों झगड़ों में, दोनों विवादों में बड़ा अन्तर है। पहले विवाद में कटुता थी, दूसरे में मधुरता है। पहले में आग्रह था, अहम् था, दूसरे में विनम्रता है, मनुहार है।

यह कटुता मधुरता में कैसे बदली? दोनों वे के वे हैं। फिर 'मैं-बड़ा' से 'आप-बड़े' कैसे हो गये? दृष्टि बदली, घटनाओं का संदर्भ बदल गया। संदर्भ बदला कि अर्थ बदल गया। अर्थ बदला कि पूरा वातावरण बदल गया। पूरा जीवन बदल गया। जीवन बदला कि पूरा जगत बदल गया।

अपने भीतर है बन्धन और मोक्ष

भगवान महावीर कहते हैं—बन्ध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव—हे आत्मन्, बन्धन और मोक्ष तुम्हारे भीतर ही है। बन्धन कहीं बाहर नहीं है। मोक्ष भी कहीं बाहर नहीं है। बन्धन और मोक्ष, दोनों ही तुम्हारे भीतर हैं। हम सांसारिक वस्तुओं को बन्धन मान लेते हैं। कोई धन को बन्धन मानता है, कोई पत्नी को बन्धन मानता है, कोई संतान को बन्धन मानता है, कोई पद, यश, सम्मान को बन्धन मानता है, कोई वस्त्र को बन्धन

मानता है, कोई शरीर को बन्धन मानता है। इस तरह हम किसी-न-किसी रूप में संसार को बन्धन माने हुए हैं। किन्तु वास्तव में संसार बन्धन है ही नहीं। यदि संसार ही बन्धन होता, तो फिर आज तक कोई उससे मुक्त हो ही नहीं पाता। क्योंकि जब तक हमें सन्देह है, संसार सम्पूर्णतः छूट ही नहीं सकता। वह किसी-न-किसी रूप में जुड़ा हुआ रहेगा ही। परिवार, संतान, वस्त्र, धन, पद ये हम छोड़ भी दें, किन्तु शरीर तो साथ ही रहेगा। शरीर तो नहीं छोड़ा जा सकेगा। और शरीर है तो संसार है ही। फिर संसार को ही बन्धन मान लिया जाये, तो मुक्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

और न मोक्ष ही बाहर है। बाहर ही होता मोक्ष, तो धनवान व्यक्ति आज तकक भी ही उसे खरीद लेते। जैसे आज चन्द्रमा की धरती पर प्लाट खरीदे जाने की चर्चा है। कहा जा रहा है कि बहुत जल्दी ही चांद की धरती पर आदमी बसेगा। योजनाएं बन रही हैं। आयोजनाएं हो रही हैं। नक्शे बन रहे हैं। सारी व्यवस्थाएं जुटाई जा रही हैं कि आदमी को चन्द्रमा की धरती पर बसाया जाये। सुना है वहां बसने के इच्छुक, धनकुबेर व्यक्तियों के आवेदन भी अमरीकी सरकार के पास आने लगे हैं। अगर चांद की धरती पर नगर बसाना सम्भव होता है, तो केवल धनपति ही वहां पहुंच पायेंगे। गरीब व्यक्तियों का वहां पहुंचना सम्भव ही नहीं है। यह तो चन्द्र-लोक की बात है। अगर मोक्ष, बैकुण्ठ-लोक बाहर मिलना शुरू हो जाये, तो कौन धनवान उस बैकुण्ठ-लोक में प्लाट खरीदना नहीं चाहेगा। क्योंकि मोक्ष के बारे में, बैकुण्ठ-लोक के बारे में जो धारणायें-अवधारणायें प्रचलित हैं, उनके अनुसार वहां अनन्त आनन्द है, अनन्त सुख है, अनन्त समृद्धि है, अनन्त वैभव है। अपने असीम धन-वैभव को दांव पर लगाकर उस असीम-

अनन्त आनन्द समृद्धि को कौन नहीं पाना चाहेगा ? किन्तु महावीर कहते हैं, वह मोक्ष बाहर नहीं तुम्हारे भीतर है। अनन्त सुख और वैभव का खजाना तुम्हारे भीतर ही है। भगवान् कृष्ण कहते हैं—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति—अर्जज, ईश्वर का निवास-स्थान समस्त प्राणियों का हृदय-प्रदेश है। हृदय-प्रदेश से तात्पर्य उसी आत्म-जगत से है, जिस ओर भगवान महावीर इशारा कर रहे हैं।

बन्धन भीतर है, मोक्ष भी भीतर है। संसार भीतर है, ईश्वर भी भीतर है। इसलिए भीतर पर ध्यान देना है। भीतर में अगर संसार नहीं है, तो बाहर के संसार में ऐसा कुछ नहीं है, जो हमें बांध सके। भीतर में अगर संसार है, तो बाहर के संसार को, धन-परिवार-वस्त्र-पद आदि को छोड़कर भी हम मुक्त नहीं हो सकते। भीतर की पकड़ ही संसार है। हम उसी से बंधे हैं। और भीतर यदि बन्धन है तो बाहर फिर बन्धन-ही-बन्धन है। भीतर में अगर हमने हो अपने को पकड़ रखा है, तो बाहर पकड़ने वाले पग-पग पर मिल जायेंगे।

आपने सुना होगा, लोग बन्दरों को कैसे पकड़ते हैं। जिस जंगल में बन्दर ज्यादा होते हैं वहां मैदान में गड्ढे खोदकर उनमें घड़े गाड़ दिये जाते हैं। उन घड़ों का मुख इतना छोटा होता है कि अंगुलियों और हथेली को सिकोड़कर ही हाथ अन्दर डाला जा सकता है। ऐसे संकरे मुखवाले तथा बड़े पेटवाले घड़ों को जमीन में पूरी तरह गाड़ दिया जाता है। सिर्फ ऊपर का मुंह खुला रहता है। उन घड़ों में थोड़े-थोड़े चने डाल देते हैं। चना बन्दरों का प्रिय भोजन होता है। आसपास किसी व्यक्ति को न देखकर वे उन घड़ों में चनों के लिए हाथ डालते हैं। चनों से मुट्ठियां भर लेते हैं। खाली हाथों को तो वे सिकोड़कर घड़े में डाल लेते हैं। किन्तु भरी हुई मुट्ठियां उन छोटे मुखों में

से नहीं निकल पाती। और बन्दर सोच बैठते हैं कि हाथ भीतर से किसी ने पकड़ लिया है। वे अपने हाथों को छुड़ाने की बड़ी कोशिश करते हैं, बड़ी उछल-कूद करते है, हाथ-पांव मारते हैं, चीखते-चिल्लाते हैं, किन्तु मुट्ठी नहीं छोड़ते। इसलिए हाथ घड़े से बाहर नहीं निकाल पाते। हाथ बाहर इसलिए नहीं आ रहा है, क्योंकि वे मुट्ठी नहीं छोड़ रहे हैं। पर वे यह समझ बैठत हैं किसी ने हाथ भीतर से पकड़ रखा है, इसलिए बाहर नहीं आ रहा है।

अब हम सोचें, किसने पकड़ रखा है उनके हाथों को भीतर से? कौन बैठा है भीतर हाथ पकड़ने वाला? पकड़ने वाला दूसरा कोई नहीं होता है। अपनी पकड़ ही पकड़े हुए है भीतर से। और जो अपनी पकड़ की पकड़ में आ जाता है, वह दूसरों की पकड़ में भी आ जाता है। बन्दर अपनी मुट्ठी की पकड़ नहीं छोड़ते, इसलिए दूसरों की पकड़ में आसानी से आ जाते हैं। जो अपनी मुट्ठी की पकड़ से छूट जाता है, वह संसार की पकड़ से भी छूट जाता है। इसलिए भगवान महावीर कहते हैं – बन्ध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव—बन्धन और मोक्ष तुम्हारे भीतर ही है।

संन्यास क्यों ?

प्रश्न हो सकता है जब संसार बन्धन नहीं है, तो संन्यास क्यों लिया जाता है? क्यों सन्यास में स्त्री, सन्तान, परिवार, धन-वैभव तथा वस्त्रों तक को छोड़ा जाता है? यह सही है संन्यास में इन सबको छोड़ा जाता है। और यह भी सही है कि वस्तुतः ये बन्धन नहीं हैं। फिर भी इनको छोड़ा इसलिए जाता है कि ये बन्धन के कारण बन सकते हैं। बन्धन नहीं हैं ये बन्धन के कारण बन सकते हैं। कारण बनते ही हों, ऐसा भी नहीं है। पर कारण बन सकते हैं, इसलिए इनको छोड़ा जाता है। वस्तुतः

बन्धन के कारण अपने राग-द्वेष-मोह ही बन्धन के उपादान हैं। वस्तुएं तो बन्धन का मात्र निमित्त-कारण होती है, निमित्त-कारण उपस्थित नहीं है। भीतर में उपादान-कारण न हो, तो बन्धन का कोई प्रश्न ही नहीं है। भीतर में उपादान हो, बाहर में कोई निमित्त न भी हो, तो भी हम बन्धन में आ जाते हैं। सीधे शब्दों में समझें, बाहर सुन्दर-से-सुन्दर रूप, कानों को प्रिय लगने वाले शब्द, आकर्षक गन्ध, सुस्वादु रस और कोमल गुद-गुदे स्पर्श उपलब्ध होने पर भी, भीतर में इन इन्द्रिय-विषयों के प्रति अगर राग-द्वेष तथा मोह नहीं है, तो कोई बन्धन नहीं है। बाहर ये इन्द्रिय-विषय नहीं भी हैं, किन्तु भीतर इनके लिए एक चाह है, एक लगाव है, एक आकर्षण है, तो बन्धन-ही-बन्धन है, चाहे उम्र-भर भी इन इन्द्रिय-विषयों का सेवन न हो। इंद्रिय विषय हैं बन्धन के निमित-कारण तथा राग-द्वेष मोहात्मक विचार हैं बन्धन के उपादान-कारण। बन्धन का प्रमुख सम्बन्ध उपादान से है। निमित्त कारणों का परित्याग इसलिये और केवल इसीलिए किया जाता है कि उन निमित्तों से भीतर में उपादान उद्दीप्त न हो। जब राग-द्वेष-मोह निर्बीज हो जाते हैं, फिर बाहरी जल का निमित्त मिल भी जाये, किन्तु उस बीज के उगने की कोई सम्भावना नहीं। बीज है तो जल मिलने से अंकुर फूटना सम्भव है ही। इसी दृष्टि से साधना में इन्द्रिय-विषयों पर संयम का विधान मिलता है।

निमित्त-कारणों से एक हद तक बचा जा सकता है, पर सर्वथा बचना असम्भव है। यह कैसे सम्भव है आंख किसी रूप को देखे ही नहीं, कान किसी शब्द को सुने ही नहीं, नाक किसी गन्ध को सूंघे ही नहीं, जीभ किसी रस को चखे ही नहीं और शरीर किसी का स्पर्श करे ही नहीं। अगर इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों का ग्रहण करना ही बन्धन हो, फिर तो

जिनके इन्द्रियां नहीं हैं, वे सबसे पहले मुक्त होने चाहिए। रूप को देखना तथा शब्द को सुनना ही बन्धन हो तो अन्ध और बहरे सबसे पहले मुक्त होना चाहिए। किन्तु बात ऐसी है नहीं। बल्कि इन इन्द्रियों का न मिलना अशुभ कर्म का उदय है तथा मिलना क्षयोपशम भाव है, शुभ का उदय है। इसलिए समझना यह है, न इन्द्रियां बन्धन की कारण हैं, न इन्द्रिय-विषय बन्धन के मूल कारण हैं, और न वस्तुएं बन्धन की उपादान हैं। बन्धन का मूल कारण है जीव के राग-द्वेष-मोहात्मक परिणाम। ये रागात्मक, द्वेषात्मक और मोहात्मक विचार भीतर हैं, तो बाहर से हम चाहे कुछ भी कर रहे हों, किन्तु भीतर में कर्म-बन्धन का उपार्जन कर रहे हैं, तो बाहर से चाहे हजार साधन बन्धन के उपस्थित हैं, फिर भी हमें कोई बन्धन में बांधने वाला नहीं है। अपने को बन्धन में डालने वाले भी हम हैं। अपने को मुक्त करने वाले भी हम हैं। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—बन्ध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव—आत्मन्, बन्धन और मोक्ष तुम्हारे भीतर ही है।

जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि

बन्धन और मोक्ष, स्वर्ग और नरक, सुख और दुःख सब कुछ हमारे भीतर हैं। इनमें से जिस किसी भूमिका पर हम भीतर में जी रहे हैं, हमें बाहर वही मिल जाएगा। सोचना यही है हम कैसा जीवन जी रहे हैं।

सोचें तो सही,
हम जीवन कैसा जीते हैं
कहीं ऐसा तो नहीं
कि ऐसा-वैसा जीते हैं
है यह हंसता फूल भी,
चुभता कांटा भी,

यह वैसा ही है,
हम इसे जैसा जीते हैं,
एक तो इसे
आप जीते हैं,
और एक हम जीते हैं,
हम तो
खुशियां जीते हैं
और आप गम जीते हैं,
क्या कारण है
जब मिला है एक-सा जीवन,
हम
इसे ज्यादा जीते हैं
और आप कम जीते हैं,

जीवन को ज्यादा जीने का अर्थ उम्र की लम्बाई से नहीं है, इसका अर्थ इतना ही है, जो क्षण, जो समय जीने को मिला है, उसे किस तरह जीते हैं। रोष और आक्रोश में जीते हैं, विवशता या मजबूरी में जीते हैं या उल्लास और आनन्द में जीते हैं। बाहर से तो जीवन-यापन के लिए किसी-न-किसी प्रकार की मजदूरी करना ही है। पत्थर तोड़ना या भार उठाना ही मजदूरी नहीं है, पेट-पालन के लिये जो भी किया जाये, वह मजदूरी ही है। वह मजदूरी हर किसी देहधारी को करना ही है। उससे छुटकारा सम्भव नहीं है। बाहर से किसी-न-किसी मजदूरी से जुड़ा होकर भी जो भीतर से राग-रोष से जुड़ा है, उसके लिए बन्धन ही बन्धन है, दुःख ही दुःख है, संसार ही संसार है। जो आनन्द, समता और वीतरागता से जुड़ा है, उसके लिये मुक्ति ही मुक्ति है, सुख-ही-सुख है, प्रभु ही प्रभु है। हम आनन्द और वीतरागता से जुड़कर भीतर में विराजमान परमात्मा को उपलब्ध हों, यही अपेक्षा है।

मन के मालिक बनें, गुलाम नहीं

वह लम्बे समय से गुरुदेव की सन्निधि में था। किन्तु उसे अभी दीक्षा-मन्त्र नहीं मिल पाया था। अनेक बार उसने दीक्षा मन्त्र के लिये निवेदन भी किया, किन्तु हर बार गुरुदेव मौन रहे। गुरुदेव ने देखा, उसका मन अभी साधना में रमा नहीं है। इसलिये मन्त्र देना जल्दबाजी होगी। किन्तु एक दिन वह अत्यन्त अधीरता से बोला, गुरुदेव, आखिर मुझे मन्त्र कब मिलेगा। गुरुदेव उसकी मनः स्थिति को भांप गये। बोले— कल सबेरे सूरज की पहली किरण के साथ तुम्हें दीक्षा-मन्त्र देंगे। इतना-सा ध्यान रखना इस बीच की अवधि में बन्दर का खयाल मन में न आना चाहिए।

वह बड़ा खुश हुआ। वर्षों की साध कल पूरी होगी। गुरुदेव से मन्त्र मिलेगा। बन्दर का खयाल तो उसे वर्षों में नहीं आया। अत्यन्त आसान शर्त है यह तो। तभी उसने देखा, मन के पेड़ की डाल पर कोई बन्दर बैठा है। अरे, यह बन्दर यहां कैसे आया? आज तक नहीं आया था, फिर आज आया तो कैसे? अब वह बन्दर को खयालों से निकालने की कोशिश करने लगा। किन्तु यह क्या? अब तो बन्दर चारों ओर से आने लगे। जिधर भी नजर जाये, बन्दर-ही-बन्दर। पूरी तरह घबरा गया। सोचा, सो जाऊं ताकि नींद आने पर बन्दरों से स्वयं छुटकारा मिल जायेगा। किन्तु सपने में भी बंदर-ही-बंदर दिखाई देने लगे।

सबेरे सूर्योदय से पहले गुरुदेव के समीप आया। चेहरा बड़ा उदास था। गुरुदेव ने कहा—दीक्षा-मन्त्र प्रदान करने का समय आ गया है। तुमको पिछली अवधि में बन्दर का खयाल आया तो नहीं? शिष्य रुआंसे स्वर में बोला—गुरुदेव, पता नहीं, इस मन को क्या हो गया है? जबसे आपने मन्त्र-दान की स्वीकृति प्रदान की है, खयालों में बन्दर-ही-बन्दर आ रहे हैं। मैंने इन्हें रोकने का, मन में बन्दरों को न आने देने का जितना संकल्प किया है, बन्दर भी उतने वेग से आने लगे हैं। जागते ही नहीं, नींद में भी बंदरों ने पीछा नहीं छोड़ा। रात-भर सपने बंदरों के ही आये। आश्चर्य इस बात का है इससे पहले बंदरों का खयाल कभी आया ही नहीं था। और अब, जबसे आपने बंदरों को खयाल में न लेने का निर्देश दिया है, बंदर पीछा ही नहीं छोड़ रहे हैं।

गुरुदेव बोले—मन्त्र लेने से पहले इस मन को समझना बहुत जरूरी है। बिना मन को समझे, मन्त्र सध नहीं पायेगा। मन के सधे बिना, मंत्र का देना, न देने के बराबर होगा। इतना ही नहीं, मन्त्र के प्रति अश्रद्धा का कारण भी वह बन सकता है। बिना सधे-मन से मंत्र का जाप सही ढंग से नहीं हो पायेगा। बिना सही जाप के, मंत्र सिद्ध नहीं होगा। मंत्र की निष्फलता का कारण होता है मन का सधा न होना। किन्तु जाप करने वाला कई बार उस निष्फलता के कारण मंत्र-शास्त्र के प्रति ही अश्रद्धा कर लेता है। इसलिए मंत्र-दीक्षा से पहले मन की समीक्षा बहुत जरूरी है।

मन की चंचलता—एक सनातन समस्या

मन की चंचलता का प्रश्न केवल उस शिष्य से ही नहीं जुड़ा था, यह लगभग हर व्यक्ति के साथ जुड़ा है। महावीर-

वाणी में महाश्रमण केशीकुमार और श्रीमद्-भगवद्-गीता में धनुर्धर अर्जुन भी इसी समस्या से व्यथित हैं।

अर्जुन श्रीकृष्ण से आकुल-स्वरों में कहते हैं—

चंचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम्
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्

भगवन्, यह मेरा मन बड़ा चंचल है, प्रयत्नशील है, हठी है, जिद्दी है, वायु की तरह इसे पकड़ में लेना अत्यन्त दुष्कर है, मैं इसका निग्रह कैसे करूं ?

अर्जुन श्रीकृष्ण की बुआ का लड़का है, बहिन सुभद्रा का पति है, सखा हैं, शिष्य हैं। उधर श्रीकृष्ण उसके रथ के सारथि हैं, परामर्श-दाता हैं, मार्ग-दर्शक हैं। वह महान धनुर्धर, महाबली अर्जुन भी मन के सामने अपने को कमजोर, असहाय महसूस कर रहे हैं।

उधर महावीर वाणी में महाश्रमणकेशीकुमार गणधर गौतम से कहते हैं—

अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई
जंसि गोयम आरूढो, कहं तेण न हीरसि ?

हे गौतम, जिस अश्व पर तुम आरूढ हो, वह साहसी है, बिना सोचे-विचारे दौड़ने वाला है, भीम—भयंकर है, दुष्ट है, निरन्तर दौड़ रहा है, वह तुम्हारा हरण क्यों नहीं करता। महाश्रमण केशीकुमार विशिष्ट ज्ञान के स्वामी हैं। वे यहां पर जिस अश्व की चर्चा कर रहे हैं, उसका संकेत इस मन से ही है। यह मन घोड़ा बड़ा साहसी है। आज की भाषा में साहसी शब्द सम्मानपरक अर्थ लिये है। साहसी अर्थात् वीर-वृत्ति धारण करने वाला। यह साहसी शब्द का उत्कर्ष है। प्राचीन भारतीय साहित्य में साहसी शब्द का अर्थ था, बिना सोचे-विचारे काम करने वाला। केशी कह रहे हैं, गौतम यह मन

का घोड़ा बड़ा साहसी है, भीम है और दुष्ट है, सारे जगत का इसके द्वारा अपहरण हो रहा है। लेकिन आप बचे हुए हैं, वह कैसे ?

अभ्यास और वैराग्य से मनो-निग्रह सम्भव

महाबली अर्जुन हो या महाश्रमण केशीकुमार, सवाल वही है जो हम सबसे जुड़ा है। मन की चंचलता खत्म हो तो कैसे? हम पथ बदल लेते हैं, गुरु बदल लेते हैं, मंत्र बदल लेते हैं, किन्तु मन का बदलना तो आसान नहीं होता। और मन न बदला तो पंथ, गुरु और मंत्र बदलने का कोई लाभ नहीं। इसलिए मनो-निग्रह पर सबसे पहले ध्यान देना जरूरी है। मन का निग्रह कैसे हो, अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान कृष्ण कहते हैं—

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्
अभ्यासेन च कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते

अर्जुन, तुम्हारे इस कथन में कोई संशय नहीं है कि यह मन बड़ा चंचल है। इसका निग्रह करना बड़ा कठिन है। इसके निग्रह के दो ही उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य। श्रीकृष्ण कह रहे हैं, मन पर निग्रह पाने के लिए दो ही उपाय हैं, एक है अभ्यास और दूसरा है वैराग्य। अभ्यास का अर्थ है बार-बार प्रयास और वैराग्य का अर्थ है विरक्ति।

अभ्यास और वैराग्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जप और ध्यान में मन एकाग्र हो, इसके लिये पुनः-पुनः प्रयास करना अभ्यास है। किन्तु अभ्यास से भी मन सधेगा तभी, जब मन में इन्द्रिय-विषयों के प्रति वैराग्य का भाव होगा। भीतर में आकर्षण जहां होगा, मन तो बार-बार ही उधर जाएगा। अगर हमारा आकर्षण सांसारिक विषयों में है, तो जप-ध्यान में वह बाधा उपस्थित करेगा ही। जिन लोगों की

यह शिकायत है कि जप-ध्यान के समय मन एकाग्र नहीं होता, उनसे संत-पुरुष पूछ लेते हैं, रुपयों की गिनती करते समय मन लगता है या नहीं ? उत्तर मिलता है, महाराज श्री, रुपयों के नोट गिनते समय तो मन खूब लगता है, जरा भी नहीं हिलता। जो मन माया में तल्लीन हो, उसको भजन-ध्यान में तल्लीनता कैसे आए ? इसलिए जरूरी है इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकर्षण टूटे। सर्वथा न भी टूटे, किन्तु थोड़ा हटे तो सही। विषयों से मन जब थोड़ा सा हटेगा, तभी जप-ध्यान में लग सकेगा। विषयों के प्रति आसक्ति टूटेगी, तभी जप-ध्यान में निष्ठा गहरी हो पाएगी। इसीलिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं—अर्जुन, अभ्यास और वैराग्य से ही मन का निग्रह सम्भव है—**अभ्यासेन च कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।**

अभ्यास साधना का प्रमुख हिस्सा है। यह केवल आत्म साधना का ही नहीं, किसी भी विद्या को सीखने, साधने का प्रमुख अंग है। हम जिस किसी विद्या को सीखना चाहते हैं, उस पर अधिकार अभ्यास से ही सम्भव हो पाएगा। उस विद्या को हासिल करने में प्रतिभा का विशेष स्थान होता है, किन्तु अभ्यास का स्थान प्रतिभा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। देखा यह गया है अभ्यास के अभाव में प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति भी अपने विषय में पिछड़ जाते हैं। और कमजोर प्रतिभा वाले अभ्यास के बल पर बड़ी-बड़ी योग्यताएं हासिल कर लेते हैं। एक बहुत प्रसिद्ध दोहा है—

करत-करत अभ्यास के जड़-मति होत सुजान।
रस्सी आवत-जात है, शिल पर होत निशान॥

रस्सी के निरन्तर आने-जाने से पत्थर की शिला पर भी गड्ढा पड़ जाता है। ठीक इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास से जड़-बुद्धि व्यक्ति भी विद्वान् हो जाता है। अभ्यास और वैराग्य

शब्द से बहुत बार हम उलझन में पड़ जाते हैं। हमें लगता है दोनों ही बहुत कठिन हैं। और यह भी लगता है अगर अभ्यास और वैराग्य ही हो, फिर मन की समस्या ही न रहे। किन्तु इसमें उलझन जैसा कुछ भी नहीं है। जिसे हम साधना चाहते हैं, अभ्यास उसके संस्कारों को दृढ़ता प्रदान करता है। जब साधना के संस्कार दृढ होंगे, विपरीत संस्कार स्वयं शिथिल होते चले जाएंगे। जब आत्मा के संस्कार दृढ होंगे, तब शरीर के संस्कार स्वयं कमजोर हो जाएंगे। जब भक्ति के संस्कार बलवान होंगे, तब विषयों के प्रति जगने वाले संस्कार स्वयं क्षीण होते जाएंगे। इसी तरह जब विषयों के प्रति वैराग्य भाव जगेगा, तब भक्ति में दृढ़ता आने लगेगी। यों कहना चाहिए, दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। भक्ति में दृढ़ता से विषयों की आसक्ति टूटेगी। विषयों के प्रति अनासक्ति से भक्ति में दृढता आएगी। आचार्य महाराज कहते हैं—

> **यथा-यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्,**
> **तथा-तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।**
> **यथा-यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि,**
> **तथा-तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।**

जैसे-जैसे ज्ञान में उत्तम तत्त्वों का समागम होता है, वैसे-वैसे सुलभ विषय भी रुचिकर नहीं लगते। जैसे-जैसे सुलभ विषयों से रुचि हटती है, वैसे-वैसे ज्ञान में उत्तम तत्त्वों का समागम होता है। अभ्यास से वैराग्य बढ़ता है। वैराग्य से अभ्यास बढ़ता है। भक्ति से यह चित्त वैराग्य को प्राप्त होता है। वैराग्य से इस चित्त में भक्ति बलवती होती है। कठिन कुछ भी नहीं है। पूरी प्रक्रिया को मात्र समझना है। मात्र ज्ञान और विवेक को जाग्रत करना है।

इसी अभ्यास और वैराग्य को भगवान महावीर एक ही

शब्द में समेट देते हैं। वह शब्द है विवेक। महाश्रमण केशी-कुमार के प्रश्न के उत्तर में गणधर गौतम कहते हैं—

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ,

तं सम्मं निगिण्हामि धम्म सिक्खाए कंथगं।

यह सही है कि यह मन साहसी - बिना सोचे-विचारे दौड़ने वाला है, भयंकर है, दुष्ट घोड़े की तरह उच्छृंखल है। मैं धर्म-शिक्षा यानि विवेक की लगाम से इसका निग्रह करता हूं।

मन का निग्रह आवश्यक

मन का निग्रह अभ्यास और वैराग्य से हो अथवा विवेक से, किन्तु निग्रह होना जरूरी है। आज कुछ धर्म-गुरु मन को खुला छोड़ने की वकालत करते दिखाई देते हैं। किन्तु मन को खुला छोड़ना, मन की चंचलता मिटाने का समाधान कभी नहीं बन सकता। यद्यपि मन को दबाना भी सही नहीं है, किन्तु मन को खुला छोड़ना भी उचित नहीं कहा जा सकता। न दबाना है और न खुला छोड़ना है, किन्तु मन का निग्रह करना है। मन अगर दबता है, तब भी दुःखदायी है, मन अगर खुला दौड़ता है, तब भी दुःखदायी है। सुखदायी वह तब होता है जब उस पर निग्रह होता है, जब हम उसके मालिक होते हैं, जब मन हमारा गुलाम होता है।

अभी यह मन समस्या इसलिए बना हुआ है कि वह हमारा मालिक बना हुआ है। होने चाहिए थे हम उसके मालिक, किन्तु बना हुआ है वह हमारा मालिक। सारी समस्याओं का उपादान यही है। समझना यह है कि हमारी जीवन संरचना में बुद्धि, मन, इन्द्रियां ये मालिक नहीं हैं। मालिक है चेतन। मालिक है आत्मा। बुद्धि, मन, इन्द्रियां ये उस चेतन के दास हैं, नौकर हैं। किन्तु आज जिस भूमिका पर खड़े हैं, उसमें सबकुछ

चल रहा है। नौकर मालिक बने हुए हैं और मालिक नौकर। चेतन के अनुशासन में मन, बुद्धि, इन्द्रियां नहीं हैं। बल्कि बुद्धि, मन, इन्द्रियों के अनुशासन में चेतन है। मालिक पर नौकर जब हावी हो जाएं, उस मालिक की क्या हाल हो जाती है। उस स्थिति में मालिक को अगर मकान में रहना है तो नौकरों का नौकर बनकर ही रहना होगा। आज हमारा चेतन भी, बुद्धि, मन और इन्द्रियां जो मूलतः उसके नौकर है, उनका नौकर बनकर रह रहा है। जो आत्मा चाहती है, बुद्धि, मन और इन्द्रियां वैसे नहीं करते। जैसा ये चाहते हैं, आत्मा को वैसा करना पड़ता है। इसी का नाम है मन और इन्द्रियों की गुलामी। और गुलाम को सुख होता ही कहां है—पराधीन सपनेहु सुख नांही।

मन चेतन का गुलाम कैसे हो, मन पर विजय प्राप्त कैसे हो, इसी प्रश्न का उत्तर है, अभ्यास और वैराग्य, धर्म-शिक्षा-ज्ञान और विवेक। जब भी मन, मन का घोड़ा बेलगाम होकर दौड़े, हम उस पर ज्ञान की लगाम लगाएं, विवेक का चाबुक लगाएं। इस निरन्तर अभ्यास से मन का निग्रह हो सकेगा।

एक बार एक धर्मपरायण राजा के मन में यही जिज्ञासा जगी, उसने अपनी जिज्ञासा अपने गुरुदेव के समक्ष रखी। गुरुदेव ने कहा—आप पूरे राज्य में यह घोषणा करवा दें कि जो एक बकरे को एक दिन के लिए भर-पेट भोजन खिला देगा, उसे एक हजार स्वर्ण मुद्राएं पुरस्कार में दी जायेगी। बकरा राजदरबार से दिया जाएगा। शाम को बकरे की परीक्षा की जाएगी। उस परीक्षा में बकरा अगर कुछ भी खाना न चाहेगा, तब माना जाएगा, बकरे ने भर पेट भोजन किया है। और भोजन करवाने वाले को एक सहस्र स्वर्ण मुद्रायें दे दी जाएगी। अगर बकरे ने कुछ खाना चाहा, इसका अर्थ होगा, बकरा अभी

भूखा है, तब भोजन करने का जिम्मा लेने वाले को दण्डित किया जाएगा। राजा ने कहा, गुरुदेव, इस घोषणा से मेरी जिज्ञासा का क्या सम्बन्ध ? फिर एक हजार स्वर्ण मुद्रा का पुरस्कार, एक बकरे को भर-पेट भोजन कराने का ? कुछ समझ में नहीं आया। गुरुदेव बोले—समय पर सब कुछ समझ में आ जाएगा। आप घोषणा करवा दें।

राजा ने घोषणा करवा दी। आकर्षक घोषणा सुनकर स्वर्ण-मुद्राओं के प्रलोभन में अनेक व्यक्ति सामने आए। किन्तु हर किसी को दंडित होना पड़ा। इसका कारण यह नहीं था कि वे उस बकरे को कुछ खिलाते-पिलाते न थे। उसको वे दिन-भर खूब डटकर खिलाते-पिलाते। किन्तु जब वे उसे राज-दरबार में ले जाते, परीक्षा के लिए उसके सामने हरी-हरी दूब लाई जाती। हरी दूब सामने देखते ही, जैसे कि बकरे की आदत होती है; उसे चरने के लिए बकरा अपना मुंह आगे बढ़ा देता। इसका अर्थ होता कि बकरे का पेट अभी पूरा नही भरा है। इस आधार पर पुरस्कार के उम्मीदवार को दण्डित होना पड़ता।

अनेक-अनेक उम्मीदवार दण्ड की चपेट में आ गये। किसी के समझ में नहीं आ रहा था, आखिर रहस्य क्या है ? स्वयं राजा भी इस पहेली को नहीं समझ पा रहा था। अन्ततः एक साधारण-सा दीखनेवाला व्यक्ति सामने आया। उसने बकरे को भर-पेट भोजन कराने का बीड़ा उठाया। वह बकरे को हरी-भरी दूब वाले मैदान में ले गया। हाथ में चाबुक लेकर वह बकरे के पास खड़ा हो गया। बकरा ज्यों ही दूब चरने के लिए मुंह बढ़ाता, वह उसके सर पर जोर से चाबुक मार देता। दिन में पचासों बार ऐसा हुआ। उसने जब भी दूब में मुंह डालने की कोशिश की, सड़ाक् से चाबुक उसके सर पर, पीठ पर आ

बरसा। भय के मारे बेचारा दूब चरना ही भूल गया।

सांझ हुई। बकरा लेकर वह राज-दरबार में उपस्थित हुआ। राजपुरुष परीक्षा के लिए तैयार खड़े थे। उन्होंने बकरे को हरी-हरी दूब दिखाई। चाबुक हाथ में लिए वह भी पास में खड़ा था। बकरे ने हरी दूब से पहले चाबुक की ओर देखा। फिर दूब की तरफ मुंह बढ़ाना तो दूर, उधर से आंखें भी फेर ली। वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राओं का पुरस्कार उसने जीत लिया।

राजा ने उसे पुरस्कार तो दे दिया, किन्तु मन में सवाल बार-बार उछल रहा था कि इस व्यक्ति ने बकरे को आखिर ऐसा क्या खिलाया कि वह अपनी आदत के एकदम विपरीत, हरी दूब की ओर आंखें उठाकर भी उसने नहीं देखा। प्रश्न-भरी नजरों से राजा ने गुरुदेव की ओर देखा। गुरुदेव ने मुस्कराते हुए कहा—इसका रहस्य इसी से पूछो। संकेत पाकर वह व्यक्ति बोला—राजन्, सच्चाई यह है, भर-पेट भोजन तो दूर, मैंने इसे आज घास का एक तिनका भी नहीं खिलाया है। यह आज पूरे दिन का उपवासी है।

"फिर इसने हरी दूब खाना क्यों नहीं चाहा?" राजा ने कहा। इसका कारण यह था, वह बोला, कि दिन में जब-जब भी इसने दूब चरना चाहा, मैंने उसके मुंह पर चाबुक मारा। उस चाबुक के भय से इसने दूब चरना ही छोड़ दिया। यहां पर भी इसने, इसी भय के कारण, दूब की ओर नजर उठाकर नहीं देखा।

सभी सभासद-गण और राजा भी उसके इस बुद्धिचातुर्य पर आश्चर्यचकित थे। तभी गुरुदेव ने कहा—इस घटना से हमें इस मन के स्वभाव को समझना है। बकरे की तरह है हमारा यह मन। इसे इन्द्रिय-विषयों की हरी-हरी दूब कितनी

ही खिलायें, फिर भी इसका पेट भरता नहीं। आंख को सुन्दर से सुन्दर कितने ही चेहरे दिखायें, फिर भी कोई सुन्दर सलौना मुखडा सामने आते ही यह उधर ताका-झांकी करने लगी। कान को मधुर से मधुर कितने ही गीत सुनायें, फिर भी कोई मीठी-गीत लहरी सुनते ही वह उधर खिंच जाएगा। नाक को मनोहारी गंध कितनी ही सुंघाई जाए, फिर भी कोई भीनी-भीनी महक आते ही नासिका उसे अपने में भरने लगेगी। जीभ को कितने ही सुस्वादु रस चखा दिए जायें, मधुर रस दीखते ही मुंह में पानी भर जाएगा। शरीर को कोमल से कोमल कितने ही स्पर्श मिल जाए, फिर भी कोई कोमल स्पर्श सुलभ होत ही यह शरीर गुदगुदाने लग जाएगा। मन का तो कहना ही क्या ? यह कभी भरती ही नहीं है। दिन-रात विषय-चिंतन में ही लगा रहता है। इसकी मांग का कहीं अन्त ही नहीं है।

तन की तृष्णा तनिक है, तीन पाव या सेर।
मन की तृष्णा अमित है, गले मेर-का-मेर॥

तन की भूख तो तीन पाव या एक सेर अन्न से मिट जाती है। किन्तु मन की भूख अनन्त है; उसे बुझाने में सुमेरु का स्वर्ण-वैभव और कुबेर का खजाना भी छोटा पड़ जाता है। इस तरह ये इन्द्रियां और यह मन बकरे की तरह है। इनका पेट भरता ही नहीं है। जब भी आप इस मन—बकरे के सामने विषय-दूब को लायेंगे, वह उसे चरने को ललचाएगा। वह उस ओर से तभी मुख मोड़ेगा, जब हर बार उस पर चाबुक लगेगा। वह चाबुक 'अभ्यास और वैराग्य' का होगा, वह चाबुक ज्ञान और विवेक का होगा। गुरुदेव के इस साधना-विवेचन से राजा का संशय दूर हो गया, मन का विज्ञान उसके सामने स्पष्ट हो गया।

हमें समझना है—

यह मन
दरिया की उफनती हुई
एक लहर है :
जिसमें समाया
एक पूरा शहर-का-शहर है :
अमृत मिलता ही है,
इस सागर के मंथन से,
पर पहले पीना पड़ता
कड़वा हालाहल जहर है,

अगर हम उस सत्-चित् का आनन्द-अमृत पाना चाहते हैं, तो इस मन जहर को हजम करना सीखना होगा। आत्मा के सागर में छुपे अनमोल मणि-रत्नों को पाने के लिए मन की चंचल लहरों के पार जाना ही होगा। इन चंचल लहरों के पार जाने का साधन श्रीमद्-भगवद्-गीता के शब्दों में 'अभ्यास और वैराग्य' है; भगवान महावीर के शब्दों में ज्ञान और विवेक मन के घोड़े पर अभ्यास का लगाम लगायें और वैराग्य का चाबुक। या मन के इस घोड़े पर श्रुत-रश्मि, ज्ञान की लगाम लगायें और विवेक का चाबुक। तभी हम मन के मालिक बन सकेंगे। अभी हम मन के गुलाम हैं। सारा दुःख इसी का है। हम मन के मालिक बनें, गुलाम नहीं। मंत्र हमें अपने मालिक बनने में शक्ति देगा, सामर्थ्य देगा और हमारे अनन्त आनन्द और ज्योतिर्मय अस्तित्व का वह द्वार बन जाएगा। मंत्र का यही महान् विज्ञान है।

अपना पता ही है परमात्मा का पता

आत्मा और परमात्मा का प्रश्न मानव जाति की धर्म-जिज्ञासा के इतिहास का आदिकालीन प्रश्न रहा है। कठोपनिषद् में नचिकेता यम से पूछते हैं—मैं अपनी आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता हूं। यम कहते हैं—तुम राज्य मांग लो, धन सम्पत्ति मांग लो, इन्द्र अथवा ब्रह्म तक का ऐश्वर्य मांग लो, परन्तु यह प्रश्न मत पूछो। इस प्रश्न में अनादि काल से न जाने कितने व्यक्ति उतरे हैं, उनका पता तक नहीं है। बहुत लम्बा रास्ता है। नचिकेता ने कहा—मुझे तो वही जानना है, जिससे मैं मृत्यु-मुक्त होकर आत्मस्वरूप को प्राप्त हो सकूं। भगवान ऋषभदेव कैवल्य प्राप्त होते हैं। उनके ९८ पुत्र उनके पास आकर कहते हैं—भगवन्! आपने जो राज्य हमें दिया, वह तो चक्रवर्तित्व के व्यामोह में भरत ने हड़प लिया। हम कहां जायें? क्या करें? भगवान ने कहा—'आओ मैं तुम्हें एक ऐसा साम्राज्य देता हूं जिस पर कोई आधिपत्य नहीं कर सकता। जिसे तुमसे कोई नहीं छीन सकता। वह आत्मा का साम्राज्य है।'

कैसा है आत्मा का साम्राज्य

यह साम्राज्य क्या है? इस प्रश्न के अगणित उत्तर दिये गए। फिर भी यह आज तक अनुत्तरित रहा है। इसका मूल कारण हमारी एक बुनियादी भूल है। हमने हर बार इस प्रश्न

को शब्दों के माध्यम से समझने की कोशिश की है, अतः शब्द-जाल में अटक गए। हमने इसे बुद्धि से, तर्क से जानने की कोशिश की है, अतः इसी की मरीचिका में उलझ गये। हमारी स्थिति उस अंधे आदमी जैसी है जिसे किसी ने सूर्य-प्रकाश के विषय में बताया। उसने पूछा—प्रकाश कैसा होता है ? उत्तर दिया गया—सफेद। वह तो जन्मान्ध था। उसके लिए सफेद क्या, काला क्या ? फिर पूछा—सफेद कैसा होता है ? बताने वाले ने कहा—दूध जैसा ? उसने कभी दूध पीया ही नहीं था। अतः फिर पूछ बैठा—दूध कैसा होता है ? उत्तर मिला—सारस जैसा ? अंधा क्या जाने कि सारस कैसा होता है ? उसने पुनः पूछ लिया—सारस कैसा होता है ? बताने वाले ने अपनी कुहनी मोड कर उस पर अन्धे का हाथ फिराया और कहा—ऐसा होता है। अन्धा बोला—समझ गया, प्रकाश कैसा होता है। प्रकाश टेढ़ा-मेढ़ा होता है। ठीक ऐसी ही हालत आत्मा और परमात्मा के विषय में हम लोगों की है। कोई कहता है—आत्मा शरीर-व्यापी है, कोई कहता है अणु-व्यापी है, कोई कहता है—विश्वव्यापी है। कोई इसे क्षणिक कहता है, कोई शाश्वत। इन्हीं मत-मतान्तरों के आधार पर बौद्ध दर्शन को शून्यवादी, अनात्मवादी एवं अनीश्वरवादी मान लिया गया। जैन दर्शन को अनात्मवादी तो नहीं, अनीश्वरवादी अवश्य मान लिया गया।

अपनी कलकत्ता से नेपाल की यात्रा के बीच में एक व्यक्ति ने मुझे पूछा—क्या आप परमात्मा को मानते हैं ? मैंने कहा—अवश्य मानते हैं। परमात्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं होता तो फिर साधना का प्रयोजन ही क्या होता। उसने कहा—मैंने तो सुना है जैन दर्शन अनीश्वरवादी है। मैंने कहा—आपने जो सुना वह भी ठीक है, मैंने जो कहा वह भी ठीक है। जैन दर्शन ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता भी है, नहीं भी

करता है। जैन दर्शन उन अर्थों में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करता जिनमें वैदिक परम्परा करती है। जैन दर्शन ईश्वर कर्तृत्व, एकेश्वरवाद, कर्मयोग में ईश्वर का हस्तक्षेप, आदि बातों को स्वीकार नहीं करता। वह मानता है कि अपने शुद्ध स्वरूप में आत्मा परमात्मा ही है क्योंकि उसका तब जन्म-मरण नहीं होता, वह अनन्त शक्ति से सम्पन्न, चिन्मय तथा आत्म रमण में लीन होता है। यह सब बुद्धि के सहारे समझा नहीं जा सकता। इसे बुद्धि के सहारे समझने की कोशिश का ही दुष्परिणाम यह है कि कोई अनीश्वरवादी मान लिया गया कोई अनात्मवादी। जीवन का परम सत्य अनुभूति का विषय है। अनुभव करने वाला इसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता।

अनुभवगम्य है उसकी सत्ता

भगवान महावीर से पूछा गया—ईश्वर क्या है ? उन्होंने कहा—उसे बताने के लिए कोई शब्द नहीं है। कहा—उपमा से समझा दीजिए। उत्तर दिया—उसकी कोई उपमा नहीं है। पुनः पूछा—कुछ तो बताइए। भगवान ने कहा—सारे शब्द वहां से टकरा-टकरा कर लौट आते हैं। तर्क वहां ठहरता नहीं है। बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती नहीं है। वह न गंध है, न रूप है, न रस है, न शब्द है, न स्पर्श है। उपनिषदों की भाषा में वह नेति-नेति है। नेति-नेति का अर्थ है, ऐसा भी नहीं है, वैसा भी नहीं है। कैसा है, इसे बताया नहीं जा सकता। बताने की कोशिश करते ही वैसी ही गलती हो जाएगी, जैसी उस अन्धे की सूर्य-प्रकाश बताने वाले से हो गई थी। आत्मा और परमात्मा पर शब्दों के माध्यम से बताने के प्रयास तो होते ही रहे हैं, इन्हीं के आधार पर दार्शनिक मतवाद तथा संघर्ष सदैव हुए हैं। कोई भक्ति को शून्य में विलीन होना मानता है, कोई एक परमसत्ता में विलीन होना

कहता है, कोई अनन्त होना। इन्हीं बातों को लेकर शास्त्रार्थ होते रहे, ग्रंथ रचे जाते रहे। मुझे आज भी लगता है कि इन सब बातों में अन्तर केवल शब्दों का है। यह अनन्त आकाश हमारे सामने है। कोई इसे शून्य कह सकता है, कोई अनन्त, कोई एक परमसत्ता। शब्दों को पकड़ने पर उनकी मीमांसा करें तो हमें सर्वत्र भेद ही भेद दिखाई देंगे। अभेद दृष्टि से देखें तो एक में, अनन्त में, शून्य में कोई भेद नहीं। इसका अनुभव वही कर सकता है जो इन्द्रियों के जगत के पार चला गया हो। वह मौन हो जाता है। उसके लिए यह अनुभव कबीर के शब्दों में 'गूंगे केरी शर्करा' है जिसे वह 'खाय और मुस्कराय।' बता नहीं सकता वह कैसी है। वही गूंगेपन की स्थिति उस भूमिका में हो जाती है। वह जो भी कहता है वह एक दूरस्थ ध्वनि-संकेत जैसा होता है। उसे पकड़कर बुद्धि अपने अर्थ निकाल लेती है, अलग-अलग परम्परायें खड़ी कर देती है।

मूल सत्ता के स्तर पर तो भेद कहीं नहीं है। उसे कैसे जानें? महाभारत शांति पर्व में कहा गया है—प्रकृति के गुणों से संपृक्त आत्मा क्षेत्रज्ञ है। ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, शरीर, मन तथा बुद्धि से मुक्त आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा का अर्थ है परम आत्मा अर्थात आत्मा की परम अवस्था ही परमात्मा है। हम चाहते हैं प्रभु के दर्शन कैसे हों। तब हम प्रभु को अलग तथा अपने को अलग मान लेते हैं। हमने परमात्मा को भी व्यक्ति बना दिया है; उसे आकार दे दिया है। उसके दर्शन भी हम देहात्मबोध के स्तर पर ही करना चाहते हैं—महावीर, बुद्ध, कृष्ण के आकार में। यहां बीच में ही बुद्धियात्रा शुरू हो जाती है। हम भटक कर पुनः नाम-रूप के जगत में आ जाते हैं, जहां से परमात्मा की खोज में चले थे। मैंने सुना है एक संस्थान में ध्यान-योग पर एक प्रयोग किया गया। तीन

साधकों को ध्यान की गहराई में ले जाया गया। तब उनसे पूछा गया—आपको परमात्मा के दर्शन किस रूप में हो रहे हैं। तीनों साधक अलग-अलग परम्परा के थे। एक सनातनी थे, एक मुस्लिम थे, एक ईसाई। एक ने कहा—सिर पर मोर पंख है, हाथ में मुरली है, पीताम्बर पहने हैं। कृष्ण कन्हैया का चित्र वर्णित कर दिया। दूसरे ने जो बताया, वह पैगंबर मुहम्मद का रूपाकार था। तीसरे को दोनों हाथ फैलाए, क्रास पर टंगे ईसामसीह दिखाई दे रहे थे। शोधकर्त्ता हैरत में पड़ गए। एक ही परमात्मा तीनों को अलग-अलग तीन रूपों में कैसे दिखाई दे रहे हैं? मैं सोचता हूं, तीन परम्पराओं के साधक थे, इसीलिये तीन रूप में ही दिखाई दिये। और ज्यादा परम्पराओं के साधक होते तो अन्य रूप में भी दिखाई देते। कोई जैन साधक होता तो उसे महावीर के रूप में दिखाई देते, कोई बौद्ध होता तो उसे बुद्ध के रूप में। यह अपने ही अवचेतन में जन्में संस्कारों का दर्शन है, परमात्मा का नहीं। हमने मान लिया कि यही परमात्मा का स्वरूप है। यहीं भूल हो जाती है। इधर हम मानते हैं कि परमात्मा नाम रूपातीत है, निराकार है। फिर भी हम अपने संस्कारवश, पारंपरिक धारणावश नाम-रूपों में उलझ जाते हैं। इन संस्कारों एवं धारणाओं से मुक्त हुए बिना परमात्मा-दर्शन सम्भव नहीं।

आत्म-दर्शन ही परमात्म-दर्शन

स्वामी राम विदेश यात्रा से लौटे। टिहरी गढ़वाल के नरेश उनके बड़े भक्त थे। धार्मिक रुचि सम्पन्न राजा थे। उन्होंने स्वामी राम से कहा—एक सवाल पूछना चाहता हूं। उसका निश्चित उत्तर चाहता हूं। गत बीस वर्षों में हजारों संन्यासियों से पूछा है, परन्तु सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। उन्होंने जो सवाल पूछा, वह सवाल हर धार्मिक व्यक्ति का है,

आपका भी है। उन्होंने कहा—हजारों वर्षों से लोग इतनी भक्ति करते हैं, पूजा एवं उपासना करते हैं, आरतियां उतारते हैं, इतने धर्मस्थान बनवाते हैं, फिर भी परमात्मा के दर्शन नहीं होते। आप पहुंचे हुए साधक हैं। आप कोई ऐसा मार्ग बतायें कि जिससे परमात्मा का साक्षात् दर्शन हो सके। रामतीर्थ ने कहा—परमात्मा का साक्षात् दर्शन मैं करा दूंगा। आप एक काम करें। अपना नाम एवं पता दे दें। ताकि उस नाम-पते को परमात्मा तक पहुंचा दूं। यह तो आप जानते ही हैं कि किसी महापुरुष से मिलना हो तो नाम-पता लिख कर समय तय करना पड़ता है। उन्होंने नाम पता लिखकर दे दिया। स्वामी राम ने पूछा—यहां आप हर समय मिलते हैं न? कहीं ऐसा न हो कि परमात्मा समय दें और आप यहां न मिलें। उन्होंने कहा ठहरें, मैं आपको अपना स्थायी पता लिख देता हूं। यहां जब भी चाहेंगे, मैं मिल जाऊंगा। रामतीर्थ ने पूछा—यह तो स्थायी है न? राजा ने कहा—हां, यह मेरा स्थायी पता है। स्वामी राम बोले—क्या आप साठ वर्ष पूर्व यहीं थे? राजा ने कहा—स्वामी जी, क्या बात करते हैं आप? साठ वर्ष पूर्व तो मैं जन्मा ही नहीं था। स्वामी जी ने कहा—अच्छा, तो पचास वर्ष बाद तो आप इसी पते पर मिल ही जायेंगे? राजा ने कहा—पचास वर्ष तक तो जीवित ही नहीं रहूंगा। क्या पता कहां होऊंगा। स्वामी जी ने कहा—जब तक आपको अपना ही पता मालूम नहीं, तब आप परमात्मा का पता कैसे पायेंगे? पहले अपना पता कर लें, परमात्म-दर्शन अपने आप हो जाएगा।

उपनिषद कहते हैं—नाड्यं आत्मा प्रवचनेन लभ्यः—यह आत्मा शास्त्रों से लभ्य नहीं। शास्त्र तो इसकी ओर अंगुलि निर्देश के अलावा कुछ नहीं हैं। गुरु भी इसकी ओर इशारा

मात्र कर सकते हैं। यह यात्रा तो हमारी है, न गुरु की, न शास्त्रों की। इस पर चलना हम ही को है। आत्मा एवं परमात्मा के साक्षात्कार में सबसे बड़ी बाधा है वे संस्कार, जो हम अपने अन्तर्मन में जमा कर बैठ जाते हैं। चाहे हमारा किसी भी परम्परा में विश्वास हो, जब तक हम पूर्व धारणाओं से ग्रस्त हैं, तब तक आत्मा एवं परमात्मा के दर्शन आपको नहीं होंगे, उन बद्धमूल संस्कारों के ही दर्शन होंगे, जिनसे हमको कुछ भी नहीं मिलेगा। जब तक परमात्मा के दर्शन कृष्ण या क्राइष्ट, महावीर और बुद्ध के रूप में हो रहे हैं तब तक हम नामरूप के जगत में ही भटक रहे हैं, अनाम एवं अरूप शुद्ध सत्ता के जगत में प्रवेश नहीं हो पाया है।

स्वामी रामकृष्ण मां काली के उपासक थे। उनका पूरा जीवन मां की उपासना में ही बीता। एक बार दक्षिणेश्वर में जहां वे रहते थे, एक नग्न संन्यासी पंजाब से आये। उनका नाम तोतापुरी था। उन्होंने कहा—मैं तुम्हें निर्गुण परमात्मा का साक्षात्कार कराने आया हूं। रामकृष्ण ने कहा—ठहरो, मैं मां से पूछ लेता हूं। तोतापुरी नहीं समझे कि रामकृष्ण का मां से क्या आशय था। उन्होंने सोचा—इसकी जन्मदात्री कोई मां होगी, कोई पार्थिव नारी। उसी से पूछने गया होगा। रामकृष्ण सीधे मन्दिर में चले गये। वे तो चौबीसों घण्टे मां के साक्षात्कार में रहते थे। मां से पूछा—एक 'नांग्टा' (नंगा) आया है। वह कहता है, तुम्हें निर्गुण परमात्मा के दर्शन कराऊंगा, समाधि विद्या सिखाऊंगा। क्या उससे सीखना है? क्या आपकी आज्ञा है? मां ने कहा—उसे मैंने ही तुम्हारे लिए बुलाया है। बाहर आकर बोले—मां ने आज्ञा दे दी है। अब मैं तैयार हूं। गुरु ने निर्विकल्प साधना की दीक्षा दी। ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ किया। रामकृष्ण कहते हैं—मैं जब भी ध्यान

की परम गहराई में जाता, अन्य सब चीजें तो मानस से हट जाती, लेकिन मां की प्रतिमा सामने आ जाती। गहराई में जाते ही मां प्रकट हो जाती। उस प्रतिमा को हटाने की बहुत कोशिश की, पर सब व्यर्थ। अन्ततः मैंने कहा—मुझसे यह नहीं होगा। यह मेरे वश की बात नहीं है। मैं मां को नहीं छोड़ सकता। यहां आकर मैं हार जाता हूं। तोतापुरी ने कहा—इसे सम्भव होना ही होगा। मैं तुझे निर्विकल्प समाधि तक पहुंचा कर ही जाऊंगा। रामकृष्ण ने निश्चय किया कि आज अगर मां भी समाधि में आयेगी तो उसे तलवार से दो टुकड़े कर दूंगा। ध्यान में तल्लीन हुए। मां का चित्र सामने आया। तत्क्षण उसके दो टुकड़े कर दिए। अब मन सारे विकल्पों से मुक्त हो गया। आनन्द के महासागर में रामकृष्ण की समाधि सीमातीत गहनता में निमज्जित थी। अन्तिम बाधा मां का नाम-रूप था। उसके पार अनाम-अरूप परमात्मा में डूबने के बाद जो पाया, वह शब्दातीत था। स्वयं रामकृष्ण ने स्वीकार किया कि उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता।

विचित्र है भीतर का जगत

यह कौन-सी तलवार की बात है। जैसे रामकृष्ण की मां अलौकिक थी, वैसे ही उनकी तलवार भी थी। वह बाहर की नहीं थी। अन्तर्जगत की तलवारें दूसरे ही प्रकार की होती हैं। अन्तर्जगत के युद्ध भी दूसरे ही होते हैं। वे सारे प्रतीक ही दूसरे ही प्रकार के हैं। महावीर के जीवन काल की ही घटना है। राजगीर नगर के बाहर एक चट्टान पर प्रसन्न राजर्षि ऊर्ध्वबाहु ध्यान-लीन थे, अडोल चट्टान की तरह खड़े थे। महावीर के दर्शन करने जाते हुए श्रेणिक बिम्बसार ने उन्हें देखा। महावीर के पास आकर पूछा—यह राजर्षि अगर अभी मृत्यु को प्राप्त हों तो इसकी अगली गति क्या होगी?

भगवान ने कहा— अगर इसकी अभी मृत्यु हो तो यह प्रथम नरक में जायेगा। श्रेणिक अवाक् रह गया। भगवान की बात समझ में नहीं आई। अभी वह उनको ध्यान में तन्मय देखकर आया था। भगवान कह रहे हैं—वह अभी मरे तो प्रथम नरक में जायेगा। यह कैसे हो सकता है? कहीं भगवान भूल से किसी दूसरे व्यक्ति के बारे में तो नहीं बता रहे? पुनः पूछा—भगवन्, मैं प्रसन्न राजर्षि के बारे में पूछ रहा हूं जो अभी राजगीर के बाहर एक चट्टान पर कायोत्सर्ग, ध्यान में लीन हैं। भगवान ने कहा—हां, मैं उसी के बारे में बता रहा हूं। अभी अगर उसका प्राणान्त हो तो वह दूसरे नरक में जायेगा। यह और भी विस्मय की बात थी। एक क्षण पूर्व मरता तो प्रथम नरक में, अब मरे तो दूसरे नरक में। वह पूछता गया—भगवन्, यह कैसे हो सकता है? भगवान कहते गये—अब मरेगा तो तीसरे नरक में, अब चौथे में, अब पांचवें में। अन्ततः सातवें नरक तक पहुंच गये। बिम्बसार सोच रहा है—बात समझ में नहीं आती। इस महान तपस्वी को सातवां नरक मिलेगा तो हम जैसों का क्या होगा? तभी भगवान बोले—अब वह मरेगा तो प्रथम स्वर्ग में जाएगा, अब द्वितीय में। अचानक उन्होंने कहा—श्रेणिक, प्रसन्न राजर्षि को कैवल्य प्राप्त हो गया है। वे इसी भव में देहत्याग कर निर्वाण प्राप्त करेंगे। कुछ मिनटों का ही खेल था यह। श्रेणिक ने पूछा—भगवन् यह मेरी तो समझ में नहीं आया। यह भीतर का जगत कैसा विचित्र है? इस सबका आंतरिक रहस्य क्या है? भगवान ने कहा—जब तुम पूछ रहे थे, तब वह ध्यान में नहीं था, युद्ध में था। तुम्हारे पहुंचने से पूर्व तुम्हारे अंगरक्षक वहां पहुंच गये थे। एक अंगरक्षक ने कहा—यह कल राजा था। आज तपस्या में लीन है। अभिवादन के योग्य है। दूसरा बोला—क्या कहते हो? कायर था। भाग कर साधु बन गया। नाबालिग पुत्र को मन्त्री के

भरोसे राजगद्दी पर बिठाकर चला गया। मन्त्री अब षड्यन्त्र कर उसे राज्य-च्युत करने जा रहा है। मासूम शिशु के भरोसे राज्य छोड़ कर भागने वाला अभिवादन योग्य कैसा ? अंग-रक्षक के शब्द प्रसन्न राजर्षि के कानों में पड़े। मन में हलचल मच गयी। जिस मन्त्री पर इतना विश्वास किया वह ऐसा षड्यन्त्रकारी निकला। मन ही मन प्रसन्न राजर्षि ने अपनी सेना एकत्रित की, आस-पास के राजाओं की सेना साथ ली, स्वयं युद्ध का नेतृत्व कर आगे बढ़े। युद्ध होने लगा। जिस समय श्रेणिक भगवान से पूछ रहा था तब राजर्षि के मन में युद्ध उत्कर्ष पर था, नाटकीय परिणाम बढ़ रहे थे। भगवान कह रहे थे, अब छठा नरक, अब सातवां नरक। तभी प्रसन्न राजा ने शत्रु के सिर से मुकुट उतार कर अपने सिर पर रखने के लिए हाथ बढ़ाया। हाथ ने मुण्डित शिर का स्पर्श किया। संज्ञा लौटी, विस्मय हुआ। कहां से कहां भटक गया था वह मन। भावनाओं का ज्वार वापिस मुड़ा। अन्तर्यात्रा पुनः शुरू हुई। सारे स्तरों को पार कर चेतना अपनी स्व-संज्ञा में प्रतिष्ठित हुई कि केवलज्ञान के दिव्य आलोक से अन्तर्बाह्य जगमगा उठा।

भीतर के युद्धों के शस्त्र भी दूसरे ही प्रकार के होते हैं। रामकृष्ण की तलवार यह तलवार नहीं थी। रामकृष्ण की मां भी यह मां नहीं थी। उसका भी अतिक्रमण कर वे अनाम-अरूप में प्रविष्ट हुए। उस निर्विकल्प में उन्हें जो आनन्द मिला, वह शब्दातीत है। जब तक हम आशा से बंधे हैं तब तक निराकार का अनुभव नहीं कर सकते। अतः सबसे अधिक बल इसी बात पर दिया गया है कि हम संस्कारों से मुक्त हों। महावीर से पूछा गया—सत्य का साक्षात्कार कैसे करें ? उन्होंने कहा—अप्पणा सच्चमेसेज्जा—अपने से सत्य की गवे-

षणा करो, अपने से पूछो। संस्कारों एवं धारणाओं से सत्य पाया नहीं जाता, आवृत ही होता है। जब हमने मान लिया कि हम शरीर नहीं हैं, आत्मा हैं, तो शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि, विचार के स्तर पर जो कुछ भी दीख रहा है उसे इन्कार करते जायें। सारे आवरणों के हटने के बाद अंत में जो ठहरती है, वही आत्मा है। शब्द, मन, बुद्धि के माध्यम से उसे जाना नहीं जा सकता। उनके माध्यम से शास्त्र खड़े किये जा सकते हैं, जिन पर अहंकार प्रतिष्ठित हो सके।

शास्त्र हैं अंगुली के इशारे

सनतकुमार ने नारद से कहा—मैंने सारे शास्त्र पढ़ लिए हैं, सारी विद्यायें सीख ली हैं। लेकिन आत्म-विद्या नहीं पा सका। ये सारे शास्त्र, सारी विद्या तो संकेत मात्र हैं उस परम सत्य की ओर। जैसे हम बच्चों को अंगुली से बताते हैं, यह ध्रुव तारा है। अब अगर वह अंगुली को ही ध्रुवतारा मान ले तो गम्भीर भूल होगी। इसी प्रकार सारे धर्मशास्त्र अंगुली के इशारे मात्र हैं, प्रतीक मात्र हैं। पकड़ना उसी को है जो इन इशारों का लक्ष्य है। हम इन इशारों को ही पकड़ कर बैठ जाते हैं।

आत्मा एवं परमात्मा के आन्तरिक साक्षात्कार को बाह्य प्रतीकों से समझाने का बड़ा प्रयत्न हुआ है। मन्दिरों में घण्टा क्यों बजता है ? ललाट पर तिलक क्यों लगाया जाता है। आगे चल कर वे सम्प्रदायों के चिह्न बन गए। प्रारम्भ में ऐसा नहीं था। वस्तुतः जब खोज हुई तो उनके पीछे विज्ञान था। हम तिलक क्यों करते हैं ? क्या वह किसी परम्परा विशेष का विज्ञापन मात्र है ? आजकल ऐसा ही हो रहा है। कोई पर-म्परा कहती है—तिलक सीधा करो, कोई कहती है, आड़ा करो। इसके पीछे गहरा रहस्य था। दोनों नेत्रों के मध्य,

जिसे भ्रूमध्य कहते हैं, योग की भाषा में आज्ञाचक्र, पौराणिक भाषा में शिवनेत्र स्थित है। पौराणिक कथा है कि कामदेव को भस्म करने शिव ने तीसरा नेत्र खोला था। हम हर कथा को नाम-रूप की दृष्टि से यथावत पकड़ लेते हैं। जबकि पौराणिक कथायें सारी प्रतीकात्मक हैं। लोग कहते हैं—ये गप्पें हैं। गत वर्ष पावापुरी में एक विदेशी पर्यटक मिला। बोला—आपके भारतीय पुराणों में गप्पें ही गप्पें भरी हैं। मैंने कहा—हां, न समझने पर वे गप्पें ही हैं। समझने पर इनमें साधना के रहस्य अन्तर्निहित हैं। आप एक-एक पौराणिक कथा देखें। सब प्रतीकात्मक हैं। उनका रहस्य खुलने पर आप विस्मयाभिभूत हो जायेंगे। शिव सब प्राणियों में हैं। हर आत्मा अपने शुद्ध बुद्ध रूप में शिव ही है, शिव आपमें भी हैं, मेरे में भी हैं, सब में हैं। हर जीव में शिव छुपा है। अन्तर्मुखी साधक इस शिव से तदात्म हो जाता है। वह देखता है कि उस पर कामदेव-विकार आक्रमण करते हैं। वह अपनी तीसरी आंख खोल कर उन्हें भस्म कर देता है। यह तीसरी आंख आपके—मेरे, सबके भीतर है। उसे आंख का प्रतीकात्मक रूप दिया गया। ज्ञान हमारी तीसरी आंख है। ज्ञान का प्रकाश विकारों को भस्म करता है। क्योंकि सारे विकार अन्ततः अज्ञान की सत्ता को ही मूर्त करते हैं। हमारे भीतर का ज्ञान नेत्र खुले, उसकी ज्वाला में अज्ञान भस्म हो, यही साधक के जीवन का लक्ष्य है। उसका सदैव स्मरण हमें कैसे रहे। इसको हमें उद्घाटन करना है। इसकी सतत स्मृति हमें रहे, इसी दृष्टि से तिलक की परम्परा का सूत्रपात हुआ। इसका रहस्य समझने में बहुत सुगम है, बाजार जाते समय आपको पत्नी कहती है, अमुक चीज लायें। सायं लौटने पर पता चलता है कि वह चीज लाना तो आप भूल ही गये। अगले दिन जाते समय पुनः वह चीज याद दिलाई जाती है तो आप रूमाल में गांठ बांध लेते

हैं ताकि उसे देखकर याद आ जाये। रूमाल की गांठ का उस चीज की स्मृति से सम्बन्ध है, स्वयं उस चीज से नहीं। उसी प्रकार तिलक भी रूमाल की गांठ है, प्रतीक है। इसका प्रयोजन यही है कि हमें यह ख्याल रहे कि ज्ञान नेत्र का उद्घाटन करना है।

सत्य ही आत्मा, आत्मा ही परमात्मा

इन प्रतीकों का अर्थ बड़ा गहरा है। ये सारे संकेत आत्मा के हैं। धर्मस्थानों, उपासनाओं आदि के रूप में जो कुछ भी उपाय हो रहे हैं वे सब इशारे मात्र हैं, वहां के लिए जहां हमें पहुंचना है। जब हम वहां पहुंच जायेंगे तब ये सारे इशारे सार्थक हो चुकेंगे। तब इन सबका कोई अर्थ शेष नहीं रहेगा। जैसे कोई व्यक्ति पर्वत के शिखर पर खड़ा होकर देखता है, उसे सब चक्करदार रास्ते दिखाई देते हैं। अगणित पगडंडियां एक-दूसरी को काटते हुए चल रही हैं। सब चक्करदार रास्ते हैं। एक-दूसरे को काटते हुए निकलते हैं। लेकिन पहाड़ तक सभी पहुंचाते हैं। तब वह जानता है कि ये सारे रास्ते ठीक हैं, कोई रास्ता वास्तव में किसी अन्य रास्ते को नहीं काटता। धर्म की यात्रा नितान्त वैयक्तिक होती है। अलग-अलग स्तरों पर खड़े व्यक्ति अपने-अपने स्तर पर यात्रा करते हैं। दो व्यक्तियों की यात्रा यहां एक साथ नहीं हो सकती। सबके स्तर अलग-अलग हैं, अतः यात्राएं भी अलग-अलग हैं। इन रास्तों में बाहर का ही भेद नहीं, भीतर भी बहुत भेद है। एक की पद्धति दूसरे के लिए ठीक हो सकती है, विपरीत भी हो सकती है। यह बात समझना आवश्यक है। ये सारे शास्त्र इन मार्गों के इशारे हैं। इन पर अपने-अपने स्तर के अनुसार सबको चलना है। किसी संकेत को पकड़ कर नहीं बैठ जाना है, जिस संकेत को हम मानते हैं वही सही है, ऐसा सोचना गलत है।

धर्म तो मानवता को एक होना सिखाता है। उसमें विभेद कैसा ? संप्रदायों के रूप में इसके अगल-अलग टुकड़े क्यों ? यह प्रश्न सही है। इसमें पहुंचे हुए व्यक्तियों का दोष नहीं है। उन्होंने मंजिल प्राप्त कर ली। नाम-रूप के जगत का अतिक्रमण कर अनाम-अरूप में चले गए। हम उनसे पूछते हैं— बताओ तो सही, वह जो आपने पाया है कैसा है ? वह अशब्द है, शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। लेकिन हमारे पास शब्दों के अलावा संप्रेषण के साधन हैं ही नहीं। अतः वे जिस प्रकार के शब्दों का प्रयोग कर कह पाते हैं, कहने की कोशिश करते हैं। कबीर कहते हैं, 'लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल। लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल।' इसमें भी वे क्या कह पाए हैं ! कुछ भी नहीं। द्रष्टाओं ने शब्दों के माध्यम से सत्य को बताने की कोशिश की। क्योंकि हमारे पास समझने के अन्य कोई सधान नहीं हैं। व्याख्याकारों ने बुद्धि के आधार पर अपने-अपने मनोनुकूल उन शब्दों के अर्थ निकाल लिए। ये व्याख्याकार वास्तव में बड़े खतरनाक प्राणी होते हैं। सारे विभेदों की शुरुआत इनके बौद्धिक, द्राविड़ी प्राणायाम से होती है। एक गीता, एक धम्मपद्, एक आचारांग है, परन्तु उनकी टीकाओं पर टीकाएं हुई हैं, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, हीनयान-महायान, श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि न जाने कितने मतवाद खड़े हो गए हैं। हमने एक-एक स्थिति को पकड़ कर उसे संपूर्ण सत्य मान लिया। हमारा समझना ही सही है, शेष सारे लोगों की परम्पराएं गलत हैं, यह आग्रह पकड़ कर बैठ गए जबकि उपनिषद् कहते हैं 'नाड्यमात्मा प्रवचनेन लभ्य', महावीर वाणी कहती है 'अपयम्म पयं गत्थि' शब्दों से इस परम तत्व के बारे में कुछ नहीं बताया जा सकता। सारे शब्द संकेत मात्र हैं, उन्हें उसी रूप में

मानना चाहिए। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि जो महान् आत्मा कैवल्य को उपलब्ध हो जाती है, उसके बाद वह शब्दों से जो व्यक्त करती है, उसके अनुभव का अनन्तवां भाग भी नहीं। और जो सुन रहे हैं वे उस अनन्तवें का अनन्तवां अंश भी पकड़ नहीं पाते। यह तो उनकी स्थिति है जो साक्षात सुन रहे हैं। हम तो हजारों वर्ष बाद, पीढ़ियों पर पीढ़ियां बीतने के बाद आज समझ रहे हैं कि हमें जो मालूम हो रहा है वही अन्तिम सत्य है। मेरे मकान में ही सारा आकाश है। उसके बाहर कहीं आकाश नहीं है। यह निरा अहंकार है। मात्र अज्ञान है। सारे जगत में आकाश है। यह हमें समझना चाहिए। जो सारे शास्त्र कह रहे हैं वह संकेत मात्र है, उसके अलावा कुछ नहीं। हमें संकेतों में नहीं उलझना है, जिस ओर संकेत है, उधर चलना है, तब हमें जो अनुभव होगा वही सत्य है। उस सत्य का नाम ही आत्मा है। उस ज्ञानमय, चिन्मय आत्मा का नाम ही परमात्मा है।

नजरें बदलिए, नजारे बदल जायेंगे

सुना है मैंने, मानसरोवर का हंस एक बार उड़ते-उड़ते किसी गांव के तालाब पर आ गया। उस तालाब के किनारे पर पहले से एक बगुला रहता था। बगुले ने हंस को देखा। उसके मन में जिज्ञासा उठी, मेरे-से मिलते-जुलते रंग-रूप वाला यह पक्षी कौन है। हंस के निकट आकर उसने पूछा—**कस्त्वं लोहित लोचनास्य-चरणः**—लाल आंख, लाल चोंच और लाल पंखों वाले, तुम कौन हो?

हंस बोला—**हंस**—मैं राजहंस हूं।

पक्षियों में हंस नाम तो मैं पहली बार सुन रहा हूं। अच्छा यह बताओ—**कुतो**—तुम कहां से आ रहे हो?

मानसात—मानसरोवर से आ रहा हूं, हंस ने अत्यन्त सहजता से उत्तर दिया।

कहां है तेरा यह मानसरोवर, बगुला बोला। और—**किं तत्रास्ति**—क्या है तेरे मानसरोवर में, बगुले का अगला प्रश्न था।

हंस ने कहा—हिमालय की ऊंचाइयों पर मेरा मानसरोवर। वहां क्या है? जो वहां है, वह सारी धरती पर कहीं नहीं मिलेगा। '**सुवर्ण पंकज—वनानि**'—वहां स्वर्ण कमलों के वन हैं। यहां स्वर्ण-कमल का अर्थ सोने का कमल नहीं है। सोने के कमल न कहीं होते हैं, न कहीं

हो सकते हैं। स्वर्ण-कमल से यहां तात्पर्य है कि हिमालय की ऊंचाइयों पर स्थित उस मानसरोवर में खिले हुए कमल-फूलों पर जब सूरज की किरणें गिरती हैं, तो वे दीप्तिमान कमल ऐसे सुशोभित होते हैं, जैसे ये स्वर्ण-कमल ही हों। हम लोग जिन दिनों नेपाल की पद-यात्रा पर थे, हिमालय की पर्वत-मालाओं के पास से गुजरते हुए हमने देखा, उन बर्फीली चोटियों पर सबेरे-सबेरे सूरज की किरणें पड़ती तो ऐसा लगता, जैसे सोने के ही पहाड़ हों, रात में चांद की चांदनी उन पर पड़ती तो ऐसे लगता जैसे चांदी के ही पहाड़ हों। इसी प्राकृतिक सुषमा को अलंकार की भाषा में हंस बता रहा है बगुले से, कि जिस मानसरोवर से मैं आ रहा हूं, वहां स्वर्ण-कमल के वन हैं।

अम्भ: सुधा-सन्निभम्—वहां का पानी अमृत-जैसा मधुर है। हिमालय के उन्नत शिखरों से बह-बहकर आने वाला वह पवित्र निर्मल जल इतना मधुर है जैसे अमृत ही हो। इतनी ऊंचाइयों पर है मानसरोवर, कि साधारणतया वह मनुष्य की पहुंच के बाहर है। इसलिए वहां की शुद्धता एवं पवित्रता बरकरार है। क्योंकि गन्दगी तो आदमी के साथ जुड़ी हुई है। जहां आदमी नहीं, वहां गन्दगी भी नहीं। आदमी और गंदगी का जैसे अटूट रिश्ता है। एक आदमी ने बस्ती छोड़कर दूर जंगल में निवास करने का निश्चय किया। मित्रों ने इसका कारण पूछा। वह बोला—बस्ती में गन्दगी होती है। इसलिए मैंने यह निर्णय लिया है। मित्रों ने हंसते हुए कहा—तुम जहां भी जाओगे, गन्दगी साथ जाएगी। बाहर जितनी भी गन्दगी है, वह सब आदमी के शरीर की भीतरी गंदगी का ही परिणाम है। बस्तियों की गंदगी का उपादान आदमी ही तो है। शायर के शब्दों में—

भीड़ सदा अन्धी होती है
अजाने ही बन्दी होती है
साफ-सुथरी हैं वीरानियां
सिर्फ बस्तियां गन्दी होती हैं ।

मानसरोवर पर कोई बस्ती नहीं है, आदमी का आवागमन भी अत्यन्त विरल है, इसलिए उसका जल अत्यन्त पवित्र तथा निर्मल है, इसी ओर इशारा करते हुये हंस बगुले से कह रहा है, वहां का पानी मानो अमृत ही है ।

और क्या है वहां तेरे मानसरोवर में, बगुले ने पूछा । हंस बोला—**मुक्ताःशुक्ति रथास्ति शंख-निवहा वैडूर्यरोहाः क्वचित्**—वहां मोती हैं, सीप हैं, शंख हैं, कहीं-कहीं वैडूर्य-रत्न भी हैं । बगुला इतनी देर तो हंस द्वारा बताई जाने वाली मानसरोवर की विशेषताओं को सुनता रहा । अब उसका धीरज का धागा टूट गया । उसने राजहंस की बात को बीच में ही काटते हुये कहा, मुझे तो यह बताओ—**शम्बूकाः किमु सन्ति** ?—मछलियां आदि जल-जन्तु वहां पर हैं या नहीं ? हंस बोला—नेति—वे तो नहीं हैं । यह सुनते ही—**बकै राकर्ण्य हिः हिःकृतम्** – बगुले ने ही ही करके मानसरोवर का उपहास किया ।

फर्क होता है केवल नजर का

एक हंस के लिये मानसरोवर बहुत महत्त्वपूर्ण है, उसमें स्वर्ण-कमल हैं, अमृत-सा मधुर पानी है, मोती हैं, वैडूर्य-रत्न हैं, सीप हैं, शंख हैं और पता नहीं क्या-क्या हैं । किन्तु वही मानसरोवर एक बगुले के लिये बेकार है, क्योंकि उसमें मछलियां नहीं हैं । हंस की नजर मोती पर है, बगुले की नजर मछली पर है । हंस और बगुले में प्रमुख फर्क यही होता है । बाहरी रंग-रूप में दोनों लगभग समान ही होते हैं । फर्क होता

है केवल नजर का। जिसकी नजर मोती पर हो; वह हंस और जिसकी नजर मछली पर हो, वह बगुला।

केवल पक्षियों में ही हंस और बगुले नहीं होते, मनुष्यों में भी होते हैं। जिस व्यक्ति की नजर मोतियों पर हो, वह हंस के समान होता है। जिसकी नजर मछलियों पर हो, औरों की कमजोरियों पर हो, औरों के दुर्गुणों पर हो, वह बगुला-सरीखा होता है। अब हमें देखना है हमारी नजर कहां पर है—मोतियों पर या मछलियों पर? विशेषताओं पर या कम-जोरियों पर? गुणों पर या अवगुणों पर?

जिस पर भी हमारी नजर होगी, हमें वही मिल जायेगा। इस संसार में न मोतियों की कमी है, न मछलियों की, न विशेषताओं की कमी है न कमजोरियों की, न गुणों की कमी है, न दुर्गुणों की। कमी है तो नजर की है। जिसकी नजर मोतियों पर है, उसे हर जगह मोती-ही-मोती बिखरे मिलेंगे। जिसकी नजर मछलियों पर है, उसे हर जगह मछलियां-ही-मछलियां मिलेंगी। इस धरती पर ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं जिसमें कोई-न-कोई विशेषता, कोई-न-कोई योग्यता, और कोई न-कोई अच्छाई और गुण न हो। और इस धरती पर ऐसा भी कोई व्यक्ति न मिलेगा, जिसमें कोई-न-कोई कमजोरी, कोई-न-कोई बुराई, कोई-न-कोई दुर्गुण न हो। अब यह हमारे पर है हमारी नजर कहां पर टिकी है। जिस पर नजर है, वही मिल जाने वाला है।

जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नजर ही होती है। नजर यानि आंख। आंख चाहे भीतर की हो या बाहर की, इसका अपना विशिष्ट स्थान होता ही है। वैसे तो शरीर का हर अंग महत्त्वपूर्ण होता है। किन्तु आंख उन सबमें भी विशिष्ट है। आंख न हो तो जीवन में अंधेरा-ही-अंधेरा होता है। रोशनी

चाहे सूरज की हो या चांद की, बल्ब की हो या दीपक की, यह काम तभी आती है जब अपनी आंखें सही-सलामत हों, अगर अपनी आंखें ही ठीक नहीं हैं, तो ये बाहर की रोशनियां कोई काम नहीं आने वाली हैं।

उपाध्याय श्री के सम्मुख छात्र बैठे हैं। उन्होंने छात्रों से सवाल पूछा—बोलो, सबसे अधिक मूल्यवान कौन-सी रोशनी है ? एक छात्र खड़ा हुआ और बोला—गुरुदेव, सबसे अधिक मूल्यवान है सूरज की रोशनी। यह न केवल उजाला देती है, प्राण भी देती है, आरोग्य भी देती है, इसलिए वह सबसे अधिक मूल्यवान है। सभी छात्र इस उत्तर से सहमत थे। किन्तु गुरुदेव मौन थे। इसका अर्थ था कि वे इस उत्तर से संतुष्ट नहीं हैं।

दूसरा छात्र खड़ा हुआ। उसने कहा—मेरी सोच में सूरज से भी ज्यादा मूल्यवान है चांद की चांदनी। रात में जब अंधेरा होता है, तब चन्द्रमा ही उजाला देता है। उस समय सूरज कोई काम नहीं आता। फिर सूरज की रोशनी में आग होती हैं। जबकि चांद की चांदनी अत्यन्त शीतल होती है। शरद्-पूर्णिमा जैसी रात्रि में तो ऐसे लगता है जैसे चांद से अमृत झर रहा हो। इसलिए चांद की चांदनी ही सबसे अधिक मूल्यवान मानी जानी चाहिए।

इस उत्तर पर भी गुरुदेव मौन थे। इसका अर्थ हुआ, गुरुदेव को इस उत्तर से भी सन्तोष नहीं था। उत्तर की श्रृंखला आगे चली। किसी छात्र ने रत्न-मणियों के प्रकाश को मूल्यवान बताया, किसी ने दीपक और मोमबत्ती के प्रकाश को। सबने अपनी-अपनी दिमागी-दौड़ के अनुसार उत्तर दिए। किन्तु गुरुदेव फिर भी मौन थे। किसी का भी उत्तर उन्हें सन्तोष नहीं दे सका। अब सब छात्रों ने निवेदन किया, गुरुदेव

आप ही कृपा करके इसका उत्तर फरमाएं।

गुरुदेव ने कहा—तुम्हारे सबके उत्तर अपनी-अपनी जगह सही हैं। सूरज, चन्द्रमा, रत्न-मणि, दीपक-मोमबत्ती, सबकी रोशनी अपनी-अपनी जगह महत्त्वपूर्ण है। किन्तु इन सब रोशनियों का महत्व हमारे लिए तभी है, जब हमारी आंखों की रोशनी सही-सलामत हो। अगर हमारी आंखों की रोशनी सही-सलामत न हो, तो जीवन में इन रोशनियों का कोई उपयोग नहीं है। इसलिए सबसे अधिक मूल्यवान है आंखों की रोशनी। आंखों की रोशनी से ही दूसरी सारी रोशनियां उपयोगी और महत्वपूर्ण बन पाती हैं।

औरों का चेहरा देखती हैं, खुद का नहीं

इतनी मूल्यवान और महत्वपूर्ण होते हुए भी इन आंखों की सबसे बड़ी कमी यह है कि ये दूसरों के चेहरों को तो देख लेती हैं, किन्तु खुद का चेहरा नहीं देख पाती। आपको इस धरती पर ऐसा एक भी प्राणी नहीं मिलेगा, जो अपना चेहरा अपनी आंखों से देख लेता हो। ये आंखें सदा औरों के चेहरों को देखने में ही लगी रहती हैं। धर्म वह आंख है जिससे आदमी अपना चेहरा देख सकता है। धर्म कहता है, तुमने आज तक औरों के चेहरे तो खूब देख लिए, अब जरा अपना चेहरा भी देख लो। औरों के चेहरों के धब्बे और कालिख को तो तुमने देख लिया है, अब जरा अपनी कालिख और धब्बों को भी देख लो। जिस दिन तुम्हें अपने धब्बे और कालिख नजर आने लग जाएंगी, उस दिन तुम्हें पता चलेगा—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय
जो मैं देखूं आपनों, मुझ से बुरा न कोय।

धर्म का अर्थ ही यह है हम अपने अवगुण देखें, दूसरों के

गुणों को देखें। लगभग हमारी नजर ऐसी है जो औरों की विशेषताओं को नहीं, कमजोरियों को देखती हैं। वह बगुले की नजर है। हमें दूसरे को देखना है तो हम उसकी अच्छाइयों को देखें, उसकी योग्यातओं को, गुणों को देखें। बुराइयां देखना हो तो अपनी बुराइयां देखें। अवगुण और कमजोरियां देखना हो तो अपनी देखें। और तब हम पाएंगे कि औरों में गुणों और योग्यताओं की कमी नहीं है, अपने में अवगुणों और बुराइयों की कमी नहीं है। यही है हंस नजर, जिसे पाने के लिए बड़ी साधना की जरूरत होती है।

सारा जप-तप होता है हंस-नजर के लिए

हमारे शास्त्र, हमारे सन्त-पुरुष जप-तप, स्वाध्याय-सत्संग पर बहुत बल देते हैं। इन सबका प्रमुख उद्देश्य यही है कि हमारे भीतर हंस-नजर का विकास हो। सामयिक, उपवास, व्रत, जप-तप, सत्संग आदि सब कुछ चलते हुए भी अगर हमारी दृष्टि बहिर्मुखी ही है, औरों की बुराइयों और कमजोरियों पर ही लगी है, तो समझ लें, अभी अंतर्यात्रा शुरू ही नहीं हुई है। ये जितनी भी उपासनाएं हैं, अभ्यास-अनुष्ठान हैं, वे तो उस अन्तर्यात्रा की पूर्व-तैयारियां हैं। जैसे हम जब किसी यात्रा पर जाने का कार्यक्रम बनाते हैं, तब उस यात्रा के लिए आवश्यक पूर्व-तैयारी करते हैं, आवश्यक कागजात साथ लेना, टिफिन-अटैची व्यवस्थित करना, टिकट लेना आदि। फिर हम गाड़ी के लिए स्टेशन पहुंचते हैं। इतना सब होने के बाद भी अगर हम एक-दो मिनट लेट हो गए, गाड़ी रवाना हो गई, तो क्या हम मंजिल पर पहुंच सकेंगे ? मंजिल पर पहुंचना तभी सम्भव है जब हम गाड़ी में सवार हो जाएं। अगर गाड़ी में सवार नहीं हो पाए, तो मंजिल नहीं ही मिलने वाली है। यही नहीं, उस स्थिति में होने वाली पूर्व-तैयारियां भी व्यर्थ हो जाने

वाली हैं। आवश्यक कागजात, टिफिन-अटैची, ट्रेन की टिकट, स्टेशन पहुंचने तक का सारा श्रम बेकार हो जाने वाला है।

ठीक यही स्थिति है अन्तर्यात्रा की। जप-तप, स्वाध्याय-सत्संग, उस अन्तर्यात्रा की पूर्व-तैयारियां हैं। इसका परिणाम यह होना ही चाहिए कि हमारी नजर बाहर से मुड़कर भीतर लग जाए। दृष्टि भीतर मुड़ने पर ही अन्तर्यात्रा शुरू हो सकेगी। सारी उपासना-क्रियाओं के बावजूद अगर दृष्टि औरों से हटकर अपने पर नहीं लगती है, इसका अर्थ है अभी अन्त-र्यात्रा शुरू नहीं हो पाई है। यह ठीक है कि जितना समय इन उपासना-क्रियाओं में लगाया, उतने समय तक संसार के छल-कपट-झूठ से बचें। किन्तु इन अनुष्ठानों का वास्तविक प्रयोजन तभी मिल पाता है, जब हम अंतर्मुखी बन पाते हैं।

औरों के गुणों और विशेषताओं को देखना हंस-नजर है। अपनी बुराइयों और कमजोरियों को देखना हंस-नजर है। बाहर से हटकर भीतर की ओर मुड़ना, औरों से उठकर अपने को देखना हंस-नजर है। इस हंस-नजर को पा लेना साधना की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

बहुत कठिन है अन्तर्दृष्टि को पाना

जप-तप करना सरल है, लम्बे-लम्बे उपवास और मौन करना सरल है, सत्संग और तीर्थयात्रा करना सरल है, किन्तु इस हंस-नजर को, अन्तर्दृष्टि को पा लेना सबसे अधिक कठिन है। सांसारिक जीवन में तो यह कठिन है ही, धार्मिक जीवन में भी यह सरल नहीं है। यही कारण है धर्म-स्थानों में जाकर भी आदमी बाहर-बाहर ही रह जाता है। संत-दर्शन और तीर्थ-दर्शन के लिए हर वर्ष हजारों-लाखों व्यक्ति सामूहिक यात्राएं करते हैं। अनेक बार कई यात्रियों से जिज्ञासावश मैंने पूछा है— कैसी रही सन्त-दर्शन-यात्रा। लगभग यात्रियों का

उत्तर होता है—बहुत अच्छी रही हमारी यात्रा। बहुत सुन्दर व्यवस्थाएं थीं समाज की ओर से। बारातियों से भी बढ़कर आवभगत हुई। वहां पहुंचते ही चाय-नाश्ता। फिर थोड़ी देर बाद ठंडा पेय। फिर शानदार भोजन। बड़ी श्रद्धा है वहां के समाज में। धर्म-स्थान (मन्दिर, स्थानक या भवन) भी बड़ा विशाल बना हुआ है। पूरा मार्बल-पत्थरों से बना है। मुनि-महाराज का प्रवचन भी सुना, मैं पूछता हूं। हां, सुना था, बहुत सुन्दर प्रवचन था। महाराज साहिब का। किस विषय पर प्रवचन था ? यह तो याद नहीं है।

मैं सोचा करता हूं, जब और सब कुछ याद है, तब प्रवचन याद क्यों नहीं है। प्रवचन-मंडप या प्रवचन-हाल तक भी खूब याद रहे जाते हैं। वह प्रवचन-मंडप खूब सजा हुआ था। खब लाईट्स, रंग-बिरंगे बल्ब, पंखे, साज-सज्जा युक्त मंच, कलात्मक मंडप, सब खूब अच्छी तरह याद है। फिर प्रवचन, सन्त-वाणी याद क्यों नहीं है ? क्योंकि नजर अभी बाहर ही लगी है, भीतर नहीं मुड़ पाई है।

यही हाल तीर्थ-यात्राओं का है। वहां ठहरने की बहुत सुन्दर व्यवस्था है। खाने-पीने का इन्तजाम बहुत अच्छा है। विशाल भव्य मन्दिर है। बड़ा प्राकृतिक सौंदर्य है, आदि-आदि। सब कुछ बाहर-बाहर तक ही ठहर जाता है। बाहरी सौन्दर्य में अटकी आंखें भीतरी सौन्दर्य तक नहीं पहुंच पाती हैं।

स्वामी आनन्दघन गिरनार पर्वत की गुफाओं में विराजमान थे। एक दिन उनके दर्शन करने के लिए कुछ भक्त-गण वहां पहुंचे। बड़ा सुहावना मौसम था। चारों ओर हरे-भरे पेड़, लताएं, ठंडी-ठंडी हवाएं, आसमान पर दौड़ती हुई घटाएं, जंगल का एकान्त-शान्त वातावरण। भक्तों ने स्वामीजी से

निवेदन किया—जरा बाहर आकर देखें, कितना सुहावना मौसम है। स्वामीजी ने उत्तर दिया—जरा भीतर आकर देखें, कितना सुहावना मौसम है। स्वामी जी के इस गम्भीर अर्थपूर्ण उत्तर के समक्ष सब अवाक् थे, नत-मस्तक थे। बाहरी सुहावने मौसम का आनन्द लूटने वाली आंखें भीतरी सौन्दर्य के आनंद तक कैसे पहुंच सकती हैं। और जिसने भीतरी सौन्दर्य का रस चख लिया, उसे बाहरी सौन्दर्य का सुख स्वयं ही फीका लगने लगता है। किन्तु उस परम से जुड़ने के लिए पहले माटी से ऊपर उठना जरूरी होता है। नजर यदि माटी पर ही लगी हो तो ज्योति मिले तो कैसे मिले। कविता की भाषा में

परम से जुड़ने की कोशिश में
हर बार
हम जुड़ जाते हैं माटी से,
सूरज से जुड़ने की कोशिश में
हर बार
हम जुड़ जाते हैं घाटी से,
परम हमारा आदर्श
महज इसलिए है कि
हम माटी का सुख भोग सकें,
सूरज हमारे लिए पूज्य
महज इसलिए है कि
हम घाटी का सुख भोग सकें,
बहुत कठिन है माटी से ऊपर उठना,
बहुत कठिन है घाटी से ऊपर उठना,

ज्योति के पास जाकर भी अक्सर हम माटी में उलझे रह जाते हैं, दर्शन को भूल कर प्रदर्शन में लग जाते हैं, अपने को भूल कर औरों में भटक जाते हैं।

एत्थों पुटके एत्थों लावणा

वास्तव में देखा जाय तो धर्म का रास्ता बहुत आसान है। यह एक आम धारणा है कि साधना का पथ जैसे तलवार की धार पर चलना होता है। इतनी उग्र तपस्या, इतना शास्त्रीय ज्ञान, इतना लम्बा जप, कितना कठिन है साधना का रास्ता। किन्तु सच्चाई यह है साधना का रास्ता जितना सरल है, दुनिया में उतना आसान कोई काम नहीं है। इसमें करना क्या है, जो नजर बाहर संसार में लगी है, उसे वहां से हटा कर भीतर लगा देना है। बस हो गया प्रभु से साक्षात्कार, हो गए ज्योति के दर्शन। और करना ही क्या है ?

पंजाब में एक बहुत प्रसिद्ध संत हो गए हैं। उनका नाम था संत बुल्ले शाह। गृहस्थ-आश्रम में होते हुए भी उनकी बड़ी ऊंची साधना थी। एक बार एक भगत उनके दर्शन करने आया। वे खेत में धान की रोपाई कर रहे थे, भगत ने निवेदन किया—मुझे भी प्रभु-प्राप्ति का मार्ग बताएं। संत बोले— अभी बताता हूं। यह कह कर वे फिर अपने काम में लग गए। इधर से धान को उपाड़ रहे हैं, उधर लगा रहे हैं। आधा घण्टा, पौन घण्टा बीत गया। भगत इन्तजार करता रहा। संत अपने काम में लगे रहे।

आखिर भगत ने सोचा, लगता है आज संतजी का मन नहीं है। प्रणाम करते हुए वह बोला—बड़ी आशा लेकर आया था आपके पास। मुझे भी कोई रास्ता मिल जाता तो मेरा भी कल्याण हो जाता। पर लगता है आज आपका मूड ज्ञान देने का नहीं है।

संत बुल्ले शाह ने कहा—अरे, इतनी देर मैं तुझे ज्ञान ही तो दे रहा था। महाराज, आप तो अपने काम में लगे थे। ज्ञान-उपदेश तो कहां दिया आपने ? वह बोला। संतजी ने

पूछा—क्या कर रहा था मैं ? उसने कहा—आप तो धान की रोपाई में लगे थे। इधर से धान के बूटे उपाड़ रहे थे, उधर लगा रहे थे। संतजी ने हंसते हुए कहा—

बुलया, रब्ब दा कि पावणा
एत्थों पुटके एत्थों लावणा।

अरे भगवान का क्या पाना ! यह जो मन संसार में लगा है, इसकी धान के बूटे की तरह यहां से उपाड़ कर उधर प्रभु में लगा दो। बस हो गया अपना काम।

साधना का इससे अधिक आसान रास्ता और क्या होगा ? हम हमारे मन को, चित्त की वृत्ति को, दृष्टि को, नजर को कुछ भी कहें, इसको मछली से हटा कर मोती पर लगा दें, संसार से हटा कर उस परम ज्योति पर लगा दें, सारी साधना और आराधना का यही सार है। इसी नजर को पाने के लिए तप-जप, पूजा-पाठ किये जाते हैं। यह दृष्टि मिल जाए तो बाहरी तप-जप अपने में कृत-कार्य हो जाते हैं।

साधारण जीवन पर असाधारण प्रभाव

केवल साधना ही नहीं, जीवन के हर क्षेत्र में इस हंस-दृष्टि का बहुत महत्त्व है। हंस-दृष्टि का अर्थ है क्षीर-नीर-विवेक ! अर्थात दूध-का-दूध और पानी-का-पानी कर देने वाली नजर। ऐसा कहा जाता है कि हंस दूध-दूध को पी लेता है, पानी-पानी को छोड़ देता है, सार-सार को ग्रहण कर लेता है, निस्सार को छोड़ देता है। इस उदाहरण से पहली बात यह स्पष्ट होती है, कि इस संसार में आपको दूध और पानी इकट्ठे ही मिलेंगे। बिना पानी का दूध नहीं मिलने वाला है। दूसरी बात यह स्पष्ट होती है, यदि हमारे में हंस नजर है तो हम दूध-दूध को पी लेंगे और पानी-पानी को छोड़ देंगे। यदि वह नजर प्राप्त नहीं है, बल्कि वक-नजर प्राप्त है तो हम सार को

छोड़ देंगे, निस्सार के लिए दौड़ेंगे।

हर वस्तु के दो पहलू होते हैं—सकारात्मक और नकारात्मक। हंस-नजर सकारात्मक होती है, वक-नजर नकारात्मक। दिन के बाद रात आती है, रात के बाद दिन। और फिर दिन के बाद रात। जिसके पास सकारात्मक नजर है, वह सोचेगा, कितनी सुन्दर है प्रकृति की व्यवस्था, जहां इधर भी दिन, उधर भी दिन, बीच में थोड़े से समय के लिए रात। दोनों ओर उजाला, बीच में थोड़ा-सा अन्धेरा। यह सकारात्मक नजर है, जिससे जीवन में आशाएं जिन्दा रहती हैं, सम्भावनाओं का क्षितिज खुला रहता है, जीने का रस एवं स्वाद बना रहता है। नकारात्मक नजर में आशाएं दम तोड़ देती हैं। कैसा है यह प्रकृति का खेल, इधर भी रात, उधर भी रात, बीच में थोड़े-से समय के लिए दिन। इधर भी अन्धेरा, उधर भी अन्धेरा, बीच में थोड़े से समय के लिए उजाला। आशावादी दृष्टि, सकारात्मक नजर दो दिनों के बीच एक रात देखती है। निराशावादी दृष्टि, नकारात्मक नजर, दो रातों के बीच एक दिन देखती है। दिन वे ही हैं, रात वे ही हैं, किन्तु नजर अपनी-अपनी है। सकारात्मक नजर साधारण जीवन को एक असाधारण अर्थ प्रदान कर देती है, नकारात्मक नजर असाधारण को भी साधारण बना देती है। सचाई यह है यह जीवन और यह जगत अपने में कुछ नहीं है। हमारे लिए ये वैसे ही हैं, जैसी हमारी दृष्टि है।

तीन रत्न

भगवान महावीर ने कहा—लो, मैं तुम्हें तीन रत्न दे रहा हूं। भौतिक रत्न छीने जा सकते हैं, लूटे जा सकते हैं, सरकार उन्हें कर के नाम पर ले सकती है, किन्तु मैं तुम्हें जो तीन रत्न दे रहा हूं, वे अनमोल हैं। न उन्हें कोई छीन सकता है, न लूट

सकता है। वे तीन रत्न हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र। तुम्हारी दृष्टि सही हो, तुम्हारा ज्ञान सही हो, तुम्हारा आचार सही हो। इन तीनों में भी भगवान महावीर ने सम्यक् दर्शन पर अधिक बल दिया। क्योंकि यह मकान की आधार-शिला है। जितनी मजबूत होगी आधार-शिला, मकान का भविष्य उतना ही सुदृढ़ होगा। ज्ञान और आचार वैसा ही होगा, जैसी हमारी दृष्टि होगी। हमारी दृष्टि में अगर पीलापन है तो हमें हर चीज पीली नजर आएगी। पीलिया के रोगी को इसीलिए हर चीज पीली नजर आती है, क्योंकि उसकी आंखों में पीलापन है। आंखों से पीलियापन हटते ही उसका वस्तु-ज्ञान भी सही हो जाएगा। जैसी नजर वैसा ज्ञान।

कहते हैं एक बार दुर्योधन श्रीकृष्ण के पास गया और बोला— भगवन्, हम कौरव और पांडव चाहे आपस में बैर-भाव रखते हैं, किन्तु पांडवों की तरह हम आपको तो पूरा सम्मान देते हैं। फिर आपकी नजर में तो कोई फर्क नहीं होना चाहिए। आपके लिए जैसे पांडव वैसे कौरव। क्या दाईं-बाईं आंख में कोई फर्क होता है? किन्तु हमें कष्ट इस बात का है, आपकी नजर में भी पक्षपात है, फिर हम औरों को कुछ कहें, तो भी क्या कहें?

श्रीकृष्ण मुस्कराये। वे दुर्योधन से बोले, तेरे सवाल का उत्तर मिलेगा। इससे पहले तुम मेरे प्रश्न का उत्तर खोजकर लाओ। मेरे मन में एक प्रश्न उगा है, मैंने जो द्वारका का निर्माण किया है, उसमें देश के भले लोग आकर बसे हैं या बुरे, जरा इसका पता लगाकर आओ।

यह कौन-सा मुश्किल काम है। अभी पता लगा देता हूं; यों कहकर दुर्योधन द्वारिका की ओर चल पड़ा। शहर के दो-

तीन चक्कर लगाए। वापस आकर वह श्रीकृष्ण से बोला—महाराज, द्वारिका में तो बुरे-ही-बुरे लोग आकर बस गए हैं। मैं पूरी नगरी के लोगों से मिलकर आया हूं। मुझे तो एक भी भला आदमी नहीं मिला। किसी में कोई बुराई है तो किसी में कोई बुराई। बुरे-ही-बुरे लोगों से भर गया है पूरा शहर।

श्रीकृष्ण बोले—यह तो बड़ी चिंता का विषय है। इतने श्रम और चाव से मैंने इस नगरी का निर्माण किया और भर गए हैं इसमें बुरे-ही-बुरे लोग। यह तो अच्छा नहीं हुआ। इतने में युधिष्ठिर आ गये। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से भी वही प्रश्न पूछा और द्वारिका में पता लगाने को कहा।

द्वारिका के दो-तीन चक्कर लगाकर युधिष्ठिर वापस आए। उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा—भगवन्, किसने कहा आपसे कि द्वारिका में बुरे-ही-बुरे लोग बस गए हैं। मैं शहर के लोगों से खूब मिलकर आया हूं। मुझे तो यहां एक भी बुरा न मिला। किसी में कोई अच्छाई है, किसी में कोई अच्छाई। मुझे तो अच्छे-ही-अच्छे मिले। ऐसा लगता जैसे पूरे देश की क्रीम, विशिष्ट लोग ही यहां आकर बस गए हैं।

श्रीकृष्ण दुर्योधन की ओर मुड़े। उससे पूछा—दुर्योधन, तुमको तो एक भी भला आदमी नहीं मिला, युधिष्ठिर को एक भी बुरा आदमी नहीं मिला। इतना अन्तर कैसे आया? तुम्हारे और युधिष्ठिर के समय क्या द्वारिका अलग-अलग थी? समझो इसका रहस्य दुर्योधन, द्वारिका एक ही थी दोनों के समय, किन्तु दोनों की नजरों में फर्क था। तुम्हारी नजर औरों की बुराइयों पर थी, इसलिए तुम्हें सारे लाग बुरे-ही-बुरे लगे। युधिष्ठिर की नजर औरों की अच्छाइयों पर थी। इसलिए उसे हर जगह अच्छे-ही-अच्छे लोग मिले। फर्क द्वारिका में नहीं था, फर्क था तुम्हारी नजरों में। उन नजरों के

अनुसार ही परिणाम मिला। श्रीकृष्ण ने आगे कहा—यही तेरे प्रश्न का उत्तर है। तू कहता है, तेरे प्रति मेरी नजरों में फर्क है। सचाई यह है यह फर्क मेरी नजरों में नहीं, तेरी अपनी नजरों में है।

प्रश्न केवल एक दुर्योधन का नहीं, हम सबका है। हमें सोचना है हमारी नजर कहां पर है ? हंस की तरह मोती पर है या बगुले की तरह मछलियों पर ? औरों की विशेषताओं और गुणों-योग्यताओं पर है या औरों की कमजोरियों, बुराइयों और अवगुणों पर ? जहां पर हमारी नजर है, हमें वही मिल जाने वाला है। सृष्टि पर नहीं, दृष्टि पर ध्यान दें, सारा निर्णय यहीं होने वाला है—

नजर को बदलिए, नजारे बदल जायेंगे,
सोच को बदलिए, सितारे बदल जायेंगे,
किश्तियां बदलने का कोई फायदा नहीं
दिशा को बदलिए किनारे बदल जायेंगे।

हमारी अपनी दृष्टि बदलते ही सृष्टि बदल जाने वाली है। नजर के बदलते ही सारे नजारे बदल जाने वाले हैं।

एक चिनगारी कहीं से ढूंढ़ लाओ दोस्तो !

शिष्य ने आचार्य महाराज से निवेदन किया—गुरुदेव, मुझे प्रभु-प्राप्ति का आसान रास्ता बताने की कृपा करें। तप मेरे से होता नहीं। तपस्वी व्यक्ति तो एक-एक माह का तप कर लेते हैं। मेरे से एक माह क्या, एक दिन भी भूखा नहीं रहा जाता। एक पहर भी बड़ी मुश्किल से भूखा रह पाता हूं। इसलिए तपस्या तो मेरे लिए एक सपना-सा है।

शास्त्र-ज्ञान में मैं अत्यन्त मन्द हूं। यह दिमाग इतना मोटा है कि शास्त्र की झीनी-झीनी बातें भीतर जाती ही नहीं। फिर पढ़ा-लिखा भी नहीं हूं मैं। सत्संग के लिए समय नहीं मिलता। दिन-भर रोटी-रोजी के चक्कर में ही लगा रहता हूं। जब सत्संग होता है, मुझे वहां जाने की सुविधा नहीं मिल पाती। कभी समय निकालकर चला भी जाऊं तो कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता।

दान देने का मेरे में सामर्थ्य नहीं है। जब घर का खर्चा भी बड़ी मुश्किल से निकलता है, तो किसी भी पुण्य-कार्य में दान देने का प्रश्न ही कहां उठता है। इस तंग हालत में सेवा-परोपकार की बात सोच ही नहीं सकता।

सत्य और शील का आचरण तो बड़े-बड़े योगियों के लिए भी दुष्कर है। फिर मेरे जैसे साधारण प्राणी के लिए तो इसकी कल्पना करना भी कठिन है। इस प्रकार तप के लिए मेरे पास

तन की शक्ति नहीं है, दान और सेवा-परोपकार के लिए धन की शक्ति नहीं है और सत्य-शील के लिए मन की शक्ति नहीं है। इस स्थिति में मेरे जैसे व्यक्ति के लिए प्रभु-प्राप्ति का क्या कोई रास्ता है ?

गुरुदेव ने फरमाया—निराश होने की बिलकुल जरूरत नहीं है तुम्हें, वत्स ! आत्म-ज्ञान या प्रभु-प्राप्ति के मार्ग अनगिन हैं। वे मार्ग सरल से सरल भी हैं और कठिन से कठिन भी। सच्चाई यह है मार्ग अपने में न कोई आसान होता है और न कोई मुश्किल। मार्ग तो मार्ग होता है। वह किसी के लिए सरल होता है तो किसी के लिए कठिन। यह चलने वाले की शक्ति पर निर्भर करता है। जिसके पास शक्ति-सामर्थ्य खूब है, उसके लिए कठिन रास्ता भी आसान बन जाता है। जो तन से और मन से कमजोर होता है, उसके लिए सरल रास्ता भी मुश्किल बन जाता है। मार्ग सरल या कठिन वैसा ही है, जैसी चलने वाले की शक्ति है। इसलिए तुम राह की चिंता मत करो। यदि एक राह तुम्हारे लिए आसान नहीं है, कोई-न-कोई दूसरी राह मिल जाएगी। कमी चाह की होती है, राह की नहीं।

नाम-सुमिरन-एक आसान मार्ग

तप के लिए तुम्हारे पास तन की शक्ति नहीं है, दान, सेवा-परोपकार के लिए धन की शक्ति नहीं है, सत्य और शील के लिए मन की शक्ति नहीं है। किन्तु तुम्हारे पास भजन की शक्ति तो है। और कुछ नहीं, तो तुम भगवान का नाम तो ले सकते हो। इसमें न भूखा रहना पड़ता है, न धन खर्च करना पड़ता है और न ही दिमाग पर जोर देना पड़ता है। एकदम आसान मार्ग है नाम का सुमिरन। और प्रभावशाली इतना कि इसके सामने दूसरे सारे साधन फीके पड़ जाएं। शास्त्रों में

यहां तक कहा गया—

एक्कोवि णमुक्कारो जिणवर वसहस्स वद्धमाणस्स
संसार-सायरो वि, तारेइ नरं व नारिं वा।

जिनवर-श्रेष्ठ भगवान महावीर को एक बार भी किया गया नमस्कार नर-नारियों को संसार-सागर के पार पहुंचा देता है। कितनी बड़ी महिमा गाई गई है नाम सुमिरन की। कि एक बार भी किया गया नमस्कार, भगवान का एक बार भी लिया गया नाम, प्राणियों को संसार-सागर से पार लगा देता है। इस शास्त्र-वाणी पर शायद तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा होगा। तुम सोच रहे होंगे कि एक बार क्या, एक-सौ-आठ बार, एक माला, भगवान के नाम की तो तुम रोज फेरते हो। वर्षों हो गये माला फेरते-फेरते। और सागर तो क्या अभी एक छोटी-सी नदी का पार भी नहीं आ पाया है। यह भी लगता होगा तुम्हें कि भगवान महावीर का यह स्तुति-गान अतिशयोक्तिपूर्ण है, बढ़-चढ़कर किया गया है। यों किसी का एक बार नाम लेने से कल्याण हो जाए, फिर तो सारी दुनिया का ही बेड़ा पार हो जाए। जबकि ऐसा हो कहीं नहीं रहा है।

पर यहां यह समझने जैसा है कि यह उद्घोषणा केवल जैन-शास्त्रों की ही नहीं है, रामचरितमानस में गोस्वामी जी भी यही कहते हैं—

जासु नाम सुमिरत इक बारा,
उतरहिं भव जल सिन्धु अपारा।

हम देखेंगे, उस श्लोक में और इस चौपाई पद में केवल भाषा का अन्तर है। दोनों में भाव पूरी तरह एक हैं। गोस्वामी जी भी कहते हैं, ऐसा है श्रीराम का नाम, जिसका एक बार भी सुमिरन कर लिया जाये, तो वह व्यक्ति इस

अपार भव-सागर से पार उतर जाता है। केवल जैन-शास्त्र या रामचरितमानस ही नहीं, सभी धर्म-ग्रन्थों एवं सभी महान् संत-पुरुषों का कहना है कि भगवान का एक बार भी लिया गया नाम दुःखों से मुक्ति दिला देता है। यह अवश्य है, हमारा अनुभव इस घोषणा से मेल नहीं खाता। दोनों में भारी अन्तर्विरोध है। इस अन्तर्विरोध को समझना बहुत जरूरी है।

नाम है एक चिनगारी

प्राचीन सन्तों के समक्ष भी यह शंका उठाई गई थी, कि एक बार के भगवान-नाम से समस्त पापों से छुटकारा कैसे सम्भव है। इसका उत्तर देते हुये गोस्वामी जी कहते हैं—

राम नाम हिरदे परयो, भयो पाप को नास,
ज्यों चिनगारी आग की, पड़ी पुराणे घास।

राम का नाम हृदय में धारण करते ही पाप का नाश वैसे ही हो जाता है, जैसे ढेर सारे पुराने घास को आग की एक चिनगारी जला डालती है। चिनगारी तो आग का एक अत्यंत छोटा-सा हिस्सा है, यों कह सकते हैं न-के-बराबर हिस्सा है। उधर पुराने घास का बहुत बड़ा ढेर है। गोस्वामी जी का कहना है इतने बड़े घास के ढेर में एक छोटी-सी आग की चिनगारी पड़ जाये, उसके बाद उस घास के ढेर का पता तक नहीं चलता, वह जल-बलकर राख बन जाता है, वैसा ही है भगवान का नाम, जो हृदय में पड़ते ही, चाहे कितने ही जन्म-जन्मों के पाप क्यों न हों, उन पापों का नाश हो जाता है।

आश्चर्य है आचार्य श्रीमद् देवचन्द्रजी भी इस प्रश्न का यही उत्तर देते हुए चौबीसी-स्तवन में लिखते हैं—

पाप-पराल को पुंज बण्यो अति, मानो मेरू आकारो
ते तुझ नाम हुताशन सेती, सहज ही प्रजलत सारो
पदम प्रभु पावन नाम तिहारो।

पाप-पराल-पुंज चाहे मेरू पर्वत जितना भी क्यों न हो, किन्तु आपके नाम रूपी अग्नि से वह सहज ही जलकर भस्म हो जाता है, पद्म प्रभु, ऐसा है आपका पावन नाम।

यदि आग की चिनगारी की तरह भगवान के नाम को हृदय में धारण किया जाये, तो पराल-घास की तरह पाप भीतर टिक ही नहीं सकता। चाहे वह पाप कितने ही जन्मों का क्यों न हो। चाहे अन्धेरा सैकड़ों वर्षों से किसी बन्द कमरे में इकट्ठा क्यों न रहा हो, एक दीपक जला देने के बाद वह नहीं ठहर सकता। क्या ऐसा कभी होता है कि एक दिन का अन्धेरा दूर करने के लिए एक दीपक चाहिये, और सौ वर्षों के अन्धेरे को दूर करने के लिये सौ वर्षों तक सौ-सौ दीपक जलाने पड़े ? अन्धेरा चाहे एक दिन का है या एक वर्ष का, सौ वष का है या हजार वर्ष का, दीपक जला कि अन्धेरा मिटा। यही स्थिति है भगवान के नाम की। किन्तु वह नाम चिनगारी की तरह लिया जाना चाहिये। बुझे हुये कोयले की तरह लिये गये नाम से अन्धेरा दूर नहीं होने वाला है।

परम्परा हमें माटी का दीया दे सकती है, तेल दे सकती है, बाती दे सकती है, किन्तु जलना हर दीपक को खुद पड़ता है। और जिस दीपक की जलने की तैयारी होती है, वह प्रकाश दे सकता है, वही अन्धेरा दूर भगा सकता है। गुरु हमें नाम या मन्त्र दे सकता है, जप की विधि दे सकता है, किन्तु उस मन्त्र को चिनगारी की तरह धारण करना हमारी जिम्मेवारी है। उस मन्त्र-दीप को हृदय-दोवट पर प्रतिष्ठित करना हमारा काम है। यशस्वी कवि-शायर श्री दुष्यन्त कुमार के शब्दों में—

इस नदी की धार में ठंडी हवा आती तो है
नाव जर्जर ही सहीं, लहरों से टकराती तो है

एक चिनगारी कहीं से ढूंढ़ लाओ दोस्तो !
इस दिये में तेल से भीगी हुई बाती तो है

हमारे पास ऋषि-मुनियों की तप परम्परा तो है, उस तप में से निकली हुई मंत्र-परंपरा भी है। सब कुछ है, किन्तु चिनगारी अपने भीतर ही पैदा करनी होगी, जिस दिन वह चिनगारी पैदा हो गई, संत-वाणी में और हमारे अनुभव में कोई अन्तर्विरोध नहीं रह जाएगा। हमारा भी वही अनुभव होगा, जो संतों ने अपनी वाणी में कहा है।

तन, वचन और मन का साधना जरूरी

जप-सुमिरन के समय नाम और मंत्र के चिनगारी न बनने में सबसे बड़ी बाधा हमारा अपना मन ही होता है। हम बैठते हैं जप करने के लिए, ऊपर होंठों पर जप चलता है और भीतर मन कहीं-का-कहीं चक्कर लगाता रहता है। जब तक मन, वाणी और काया तीनों नाम या मंत्र के साथ एकाकार नहीं होंगे, चिनगारी पैदा नहीं हो सकती। हमारी लगभग स्थिति यह है कि तन कहीं और है और मन कहीं और है। तब जप बुझे हुए दीपक के समान ही रह जाता है।

जप के लिए जरूरी है यह तन भी सधे, वचन भी सधे और मन भी सधे। तन को साधने के लिए आसन-सिद्धि जरूरी है। आसन सिद्धि नहीं होगा तो जप के समय हम स्थिरतापूर्वक नहीं बठ सकेंगे। शरीर में कभी कहीं दर्द महसूस होगा तो कभी कहीं। कभी पांवों के टखने ही गड़ने लगेंगे, कभी पीठ में खुजली आने लगेगी, कभी शरीर में अकड़न महसूस होने लगेगी। जब शरीर ही जप में साथ नहीं देगा, तो मन की तो बात ही क्या है। जप में शरीर साथ दे, इसके लिये आसन-सिद्धि होना जरूरी है।

वाणी का सहयोग तब मिलेगा, जब जप के साथ मौन जुड़ेगा। वैसे तो मौन शब्द बहुत गहरा है। जब इन्द्रियाँ बाहर से बिलकुल विरत हो जाएं, वह पूर्ण मौन कहलाता है। किन्तु यहां मौन से तात्पर्य न बोलने से है, इन्द्रियों का पूर्ण मौन तो कठिन होता है, किन्तु वाणी का मौन भी आसान नहीं होता। थोड़ी-सी देर में ही हम बोलने के लिए आकुल-व्याकुल होने लगते हैं। चार भगत मंदिर में जप करने के लिए बैठे। जप-अनुष्ठान के बीच में बोलना बिल्कुल वर्जित होता ही है। थोड़ी ही देर बाद, न बोलने के कारण चारों को ही ऊब महसूस होने लगी। पर बोलने के लिये कोई बहाना तो चाहिए। इतने में एक को बहाना मिल गया। वह बोल उठा—अपने तो जप-अनुष्ठान में बैठ गये, मंदिर का दरवाजा तो खुला ही रह गया। यह सुनते ही दूसरे को भी बोलने का मौका मिल गया। वह भी बोल उठा—अरे, अपने मौन का संकल्प था अनुष्ठान पूरा होने तक। तू बीच में ही बोल गया। अब तीसरा भगत भी कब चूकने वाला था। उसने कहा—यह बोल गया सो बोल गया। पर तू भी मौन कहां रहा? चौथे ने सोचा—तीनों ने बोलकर अपनी ऊब मिटा ली है। केवल मैं बचा हूं। ऊब मुझे भी मिटाना है। वह बोल पड़ा—मैं ही भला जिसने अपने संकल्प को नहीं तोड़ा। और वह भी बोल गया। इस प्रकार आसान नहीं है वाणी का मौन भी रखना। पूर्ण मौन तो बहुत साधना के बाद ही प्राप्त होता है।

सबसे बड़ी समस्या है यह मन

तन को साधने के लिये आसन-सिद्धि तथा वचन को साधने के लिये मौन का अभ्यास, ये दोनों भी इतने आसान नहीं हैं। फिर मन को साथ लेना तो महान कठिन है। फिर आसन और मौन दोनों ही अभ्यास स्थूल हैं। ये आसानी से पकड़ में भी आ जाते हैं तथा थोड़ा-सा प्रयत्न करने पर इनका अभ्यास

सध जाता है। किन्तु मन का मामला बड़ा टेढ़ा है। इसको साधना बहुत कठिन है। साधारण गृहस्थी की तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े संत-महात्मा भी इस मन के सामने हार जाते हैं। पचास-पचास वर्षों से नियमित जप-पाठ करने वालों का भी यह सवाल होता है कि जप पाठ में मन नहीं टिकता। सब कुछ ऊपर-ऊपर चल रहा है। जैनी हैं तो नवकार मन्त्र की माला फेरनी ही चाहिए। सनातनी हैं तो श्रीराम का नाम लेना चाहिए। सिख हैं तो वाहे गुरु का सुमिरन करना चाहिए। मुसलमान हैं तो नमाज पढ़ना चाहिए। बस इसी संस्कार के कारण लोग जप-पाठ कर लेते हैं, किन्तु यह मन है कि न नवकार मंत्र में टिकता है, न राम के नाम में, न वाहे गुरु के सुमिरन में लगता है, न नमाज पढ़ने में। जो कुछ चलता है, उसमें दिखावा ही ज्यादा होता है, असलियत कम होती है।

शहर के काजी जी तथा नवाब साहिब मस्जिद में नमाज अदा करने जा रहे थे। रास्ते में गुरु नानकदेव मिल गए। नानकदेव का प्रमुख सन्देश था अल्लाह हो या राम, एक ही ज्योति के ये अलग-अलग नाम हैं। कट्टर-पंथी लोग उनके इस उपदेश से मन-ही-मन जलते थे। मौका मिलने पर गुरु नानकदेव को देखकर काजीजी बोले—तुम्हारे लिए तो अल्लाह और राम एक ही है। आओ, हमारे साथ फिर मस्जिद में नमाज अदा करने के लिए चलो। अगर नमाज के लिए तुम मस्जिद में चलते हो तब तो हम मानेंगे, तुम्हारी कथनी-करनी एक है, तुम सच्चे हो। अगर नहीं चलते हो तो तुम्हारा उपदेश ढोंग है, पाखंड है, दिखावा है।

गुरु नानकदेव मन-ही-मन मुस्करा उठे। बोले—चलो, हमें आपके साथ चलने में क्या हर्ज है। तीनों मस्जिद में पहुंचे। काजीजी तथा नवाब साहिब नमाज में बैठ गए। नानकदेव भी ध्यान में लीन हो गए। नमाज पूरी होने पर काजीजी और

नवाब साहिब ने देखा, नानकदेव तो यों ही आंखें मूंदे बैठे हैं। वे बहुत नाराज हुए, बोले मस्जिद में आकर भी नमाज न पढ़ना, यह इस्लाम धर्म का अपमान है। गुरु नानकदेव ने कहा—मैं आपके साथ आया था नमाज पढ़ने के लिए। किन्तु आप यहां थे नहीं, फिर मैं किसके साथ नमाज पढ़ता ? काजीजी और नबाब साहिब दोनों एक साथ बोल पड़े—इतना बड़ा सफेद झूठ बोल रहे हो तुम। हम तो यहीं थे और तुम्हारे सामने ही नमाज अदा कर रहे थे।

नानकदेव बोले—काजीजी, सच-सच बताना, आप नमाज में थे या अपने बाड़े में, जहां आज सबेरे ही एक घोड़ी ने बछिया को जन्म दिया है। क्या आपको यही चिन्ता नहीं सता रही थी कि बाड़े का दरवाजा भूल से खुला रह गया है। कहीं कोई कुत्ता आदि जानवर बछिया का नुकसान न कर दे। यह सुनते ही काजीजी का चेहरा सफेद पड़ गया। नानकदेव ने मन के चोर को पकड़ लिया था। वे नानकदेव के कथन का प्रतिवाद न कर सके।

अब संतजी ने नवाब की ओर देखा। फिर बोले—नवाब साहिब, आप बताएं, आप नमाज में थे या अरब से आए घोड़ों के बारे में सौदागरों के साथ तोल-मोल में लगे थे। यह सुनते ही नवाब साहिब तो संतजी के चरणों में ही आ गिरे। गुरु नानकदेव ने कहा—अब आप ही बताएं, आप नमाज में कहां थे। फिर मैं किसके साथ नमाज पढ़ता ?

यह है लगभग हम सबकी मनःस्थिति! न हमारा तन सधा हुआ है, न वचन सधा हुआ है और न ही सधा हुआ है मन! फिर नाम या मंत्र चिनगारी बने तो कैसे बने। जप-सुमिरन में तन का दीपक हो, वचन का तेल हो, मन की बाती हो, उसको जलाएं नाम की तिल्ली से, फिर देखिए, रोशनी

प्रकट होती है या नहीं होती है। अंधेरा दूर होता है या नहीं होता है। इन तीनों में से एक की भी कमी होने पर नाम चिनगारी का रूप धारण नहीं कर सकता, दीपक में से रोशनी प्रकट नहीं हो सकती। जप-सुमिरन के बावजूद यदि भीतर अंधेरा वैसा-का-वैसा है, तो हमें समझ लेना है, हमारी कहीं मूल में ही भूल हो रही है।

नाम का मन पर प्रभाव

हमारा मन मननशील है। वह निरन्तर चिंतन-मनन करता ही रहता है। इस मनन से ही मन का अस्तित्व है—मननात् मनः। मनन है तो मन है। मनन नहीं तो मन भी नहीं। और सारा मनन-चिन्तन शब्दात्मक होता है। हम शब्द के अभाव में चिन्तन नहीं कर सकते। शब्द और चिन्तन का अभिन्न सम्बन्ध होता है। चिन्तन विषयात्मक होता है। इस प्रकार मन और विषय के बीच शब्द के माध्यम से एक सम्बन्ध बन जाता है। मन को निर्विषय बनाने के लिए जरूरी है कि वह शब्द-जगत से ऊपर उठे। अब प्रश्न यह है कि यह मन नाम और रूप से ऊपर उठे तो कैसे ?

इस नाम-रूपमय जगत से ऊपर उठने के लिए प्रारम्भ में हमें नाम और रूप का ही सहारा लेना होगा। हीरा, केवल हीरे से ही काटा जा सकता है। विष का औषध विष ही होता है। वहां अमृत काम नहीं करता। ऐसा भी कहा जा सकता है कि वहां विष ही अमृत बन जाता है। ऐसे ही मन को अनाम तक ले जाने के लिए पहले नाम का ही आलम्बन लेना पड़ता है। प्रारम्भ में और-और सभी नामों से मन को हटाकर उसे एक नाम के साथ जोड़ें। फिर उस नाम से भी मन को हटाकर अनाम मे छलांग लगायें। नाम-सुमिरन वह खिड़की है जिसके द्वारा अनाम के आकाश में छलांग लगाई जा सकती है।

नाम शब्दात्मक होता है। शब्द अक्षरात्मक होता है। अक्षर वह है जिसका कभी क्षरण नहीं होता। अक्षर का संबंध ध्वनि से होता है। ध्वनि का प्रभाव हमारे तन, मन और चेतन तक जाता है। अन्तर्जगत पर ध्वनि का और गहरा प्रभाव होता है। अक्षर ध्वनि पर सवार होकर ही अपनी यात्रा तय करता है। नाम और मंत्र का कार्य-क्षेत्र प्रमुखतः ध्वनि-जगत ही है। उस ध्वनि के सहारे ही अनहद तक पहुंचा जा सकता है। उस ध्वनि-जगत तक पहुंचने का माध्यम अक्षर है, इसीलिए हर अक्षर अपने में मन्त्र होता है।

अमन्त्र मक्षरं नास्ति, नास्ति मूल मनौषधम्
अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजक स्तत्र दुर्लभः

ऐसा कोई अक्षर नहीं जो अपने में मन्त्र न हो। ऐसी कोई जड़ी नहीं जो अपने में औषध न हो। ऐसा कोई पुरुष नहीं जो अपने में योग्य न हो। इतना अवश्य है इनकी उचित संयोजना करने वाला दुर्लभ होता है। अक्षरों की उचित संयोजना से ही वह मंत्र बन पाता है। जड़ी-बूटियों की उचित संयोजना से ही ये औषध बन पाती है। पुरुष की योग्यता के अनुरूप संयोजना से ही वह महान् कार्य सम्पादित कर पाता है। महत्वपूर्ण है इनकी सही संयोजना। दुर्लभ है इनका सही संयोजक।

शब्दों की सही संयोजना से अर्थपूर्ण भाषा बनती है। अक्षरों की सही संयोजना से अर्थपूर्ण शब्द बनता है। ध्वनियों की सही संयोजना से अर्थपूर्ण अक्षर बनता है। और वे उचित संयोजना-पूर्ण-अक्षर ही मन्त्र बनते हैं। मन्त्र में अक्षरों की संयोजना अपने उद्देश्यों के अनुसार होती है। अगर संयोजना गलत हो तो उसके परिणाम भी विपरीत ही आएंगे। या यों कहा जा सकता है, जिस मंत्र में अक्षरों की जैसी संयोजना है, हमारे पर उसका प्रभाव भी वैसा ही होने वाला है।

एक कालेज में मेरा प्रवचन था। कालेज का माहौल अपने ढंग का होता ही है। फिर कोई सन्त-महात्मा कालेज में आ जाए तो कहना ही क्या? एक छात्र मेरे पास आया और बोला—आपने किस कालेज में अपना अध्ययन किया। मैंने सहजता से कहा—किसी भी कालेज में नहीं। उसने उपहास-सा करते हुए कहा—फिर कैसा आपका ज्ञान? नो नालेज विदआउट कालेज—कालेज के बिना कोई ज्ञान नहीं होता। मैंने भी हंसते हुए कहा—इसीलिए तो आज आपके बीच कालेज का अनुभव लेने आए हैं। वह थोड़ा सकपका गया।

छात्रों के बीच प्रवचन हुआ। प्रसंगवश मन्त्र-विज्ञान के बारे में बताते हुए मैंने कहा—हर अक्षर अपने में मंत्र होता है। प्रवचन के अन्त में प्रश्न के लिए एक छात्र ने हाथ ऊंचा किया। प्रिंसिपल साहिब सवाल को टालना चाहते थे। उनको संकोच या भय इस बात का था कि कोई छात्र सन्त-पुरुषों का अपमान न कर दे। लेकिन मेरी सहमति से उन्होंने उस छात्र को प्रश्न पूछने की अनुमति दे दी।

वह छात्र खड़ा हुआ। अनुशासन के वातावरण की कल्पना आज के कालेज-जीवन में आकाश-कुसुम है। किन्तु उसके चेहरे पर उपहास-परिहास के भाव सहज ही पढ़े जा सकते थे। उसने कहा—आपने अभी कहा—हर अक्षर अपने में मन्त्र है। फिर हम 'जी ओ डी' (GOD) का ही जाप क्यों करें? हम 'डी ओ जी' (DOG) का भी जाप कर सकते हैं। दोनों में अक्षर भी वही हैं। केवल अक्षरों का क्रम आगे-पीछे है। फिर किसी का भी जप किया जाए, इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? प्रश्न सुनते ही सारे छात्र खिलखिला कर हंस पड़े।

मैं देख रहा था प्रश्न के पीछे कोई जिज्ञासा का भाव नहीं है। तर्क जिज्ञासा शान्त करने के लिए हो तो उचित है। किन्तु

जब तर्क केवल तर्क के लिए हो तब वह निरर्थक ही होता है। यहां भी केवल तर्क के लिए तर्क था। फिर भी उत्तर देना ही था। मैंने अत्यन्त सहजता से कहा—बहुत अच्छा प्रश्न है आपका, कि जब हर अक्षर अपने में मन्त्र है, तब 'गॉड' (GOD) की जगह 'डॉग' (DOG) का जप आप करें, तो क्या आपत्ति है? कोई आपत्ति नहीं है मुझे, आप आराम से यह जप-पाठ कर सकते हैं। पर इतना अवश्य समझ लें मन्त्र-विज्ञान का एक नियम यह भी है, जो जिसका जप करता है, वह वैसा ही हो जाता है। अब 'डॉग' बनना है या 'गॉड', इसका निर्णय आपको करना है। आप जो भी बनें, उसमें मुझे क्या आपत्ति हो सकती है। यह सुनते ही सारी सभा में एक जोर का ठहाका गूंज उठा। सारे छात्र तथा प्राध्यापक उस छात्र की ओर देखने लगे। उस समय उस छात्र का चेहरा देखते ही बनता था।

जैसे हमारे विचार होते हैं, हमारा व्यक्तित्व भी वैसा हो जाता है। यह एक शाश्वत नियम है। बाइबिल कहती है—As we thinketh, so we becometh—हम जैसा सोचते हैं, वैसे ही हो जाते हैं। जब हम राम नाम का जप करते हैं, तब हमारे भीतर एक चित्र उभरता है—मर्यादा पुरुषोत्तम राम, आसुरी ताकतों के खिलाफ जूझता हुआ राम। और हमारे भीतर भी मर्यादाओं के प्रति एक प्रेरणा जागती है, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध जूझने की एक ललक पैदा होती है। जब हम महावीर का ध्यान करते हैं, हमारे भीतर एक तस्वीर उभरती है—त्याग और तपस्या की मूर्ति भगवान महावीर, हिंसा, जातिवाद, दास-प्रथा और अन्य विश्वासों के खिलाफ जेहाद छेड़ते महावीर। और हमारे भीतर भी सहजतया त्याग, तपस्या और अहिंसा-दया की भावनाएं जागती हैं। जीवन के

निर्माण में इन भावनाओं और प्रेरणाओं का प्रमुख स्थान होता ही है।

मन्त्रों का विघ्न-विनाशी स्वरूप

अनेक बार प्रश्न सामने आता है क्या मन्त्र-जाप से विघ्न-बाधाओं का नाश होता है? नवकार महामन्त्र के स्तुति-गान में कहा गया है—

ऐसो पंच णमुक्कारो, सव्व-पाव-पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।

पंच-परमेष्ठी को किया गया नमन सब पापों का नाश करने वाला है तथा समस्त मंगलों में यह सर्वोत्तम मंगल है। शास्त्रों की यह घोषणा इस प्रश्न का उत्तर ही है। बात बहुत सरल ही है। जब हम घर में दीपक जलाएंगे, तो अंधेरा दूर होगा ही। पवित्र नाम का सुमिरन करेंगे तो पाप का नाश होगा ही। मंगल की स्थापना करेंगे तो अमंगल के टिकने का प्रश्न ही नहीं है।

साधारणतया आदमी बाहर की विघ्न-बाधाएं देखता है। जबकि असली विघ्न-बाधाएं तो भीतर हैं। अगर भीतर में अपने पूव-कृत कर्मों की कोई बाधा न हो तो बाहरी विघ्न-बाधाएं टिक ही नहीं सकती। इसलिए समझना है विघ्न-बाधाओं के मूल कारण भीतर हैं बाहर नहीं। हम उन कारणों को बाहर देखते हैं। जो कारण बाहर दीखते हैं, उनको हटाने की कोशिश करते हैं। उसे हटाने की कोशिश में कई बार इतने गलत कार्य कर बैठते हैं कि वे विघ्न-बाधाएं घटने की बजाय और अधिक बढ़ जाती हैं। इसलिए सन्त-पुरुष कहते हैं उन विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए तुम भीतर की ओर ध्यान दो। पूर्व-कर्म-कृत पाप दूर होने पर पुण्य अपने आप प्रकट हो जाएगा।

नाम-सुमिरन या मन्त्र-जाप भीतरी बाधाओं को दूर हटाता है। वह चेतन पर आए मैल को मांजता है। जैसे तन पर जमा हुआ मैल साबुन से छूटता है, वैसे ही चेतन पर जमा हुआ कर्म-मल नाम और मन्त्र से धुल जाता है। गोस्वामी जी कहते हैं, राम का नाम ऐसा मणि-दीप है, जिसको जीव की देहरी पर रखने से बाहर-भीतर दोनों ओर उजाला हो जाएगा—

राम-नाम मणि-दीप धरू, जीह देहरी द्वार
तुलसी भीतर बाहिरी, जो चाहत उजियार।

कमरे में रखा दीपक केवल कमरे को उजाला देता है। किन्तु जिस दीपक को देहरी पर रख दिया जाए, वह कमरे के भीतर तथा आंगन, दोनों को प्रकाश से भर देता है। ठीक इसी तरह यह जीभ देहरी है। देहरी की तरह इस जीभ का सम्पर्क बाहरी दुनियां से भी है, भीतरी दुनिया से भी। भाषा के उच्चारण में जीभ का प्रमुख योग होता है और वाणी ही बाहरी दुनिया से सम्पर्क का प्रमुख साधन है। वैसे ही भोजन चबाने और निगलने में जीभ की अहम भूमिका होती है। आहार ही शारीरिक आरोग्य, बल, वीर्य और पराक्रम का प्रमुख उपादान होता है। इस तरह जीभ ही शरीर की वह देहरी है जिसका सम्बन्ध बाहरी-भीतरी दुनिया से जुड़ा हुआ है। गोस्वामी जी कहते हैं, यदि तुम अपने बाहर-भीतर दोनों तरफ उजाला चाहते हो, तो इस जीभ-देहरी पर राम का नाम, भगवान का नाम रखो। यह नाम बाहरी-भीतरी सभी विघ्न-बाधाओं को दूर करता है।

भगवान का नाम लेने से क्या पूर्व-अर्जित पाप-बन्धन कट जाते हैं? इसके बारे में इतना ही कहना है, जैसे सूरज अस्त होने पर रात का अंधेरा चारों ओर उतर जाता है। वह पूरा

अंधेरा तो सूरज निकलने पर ही दूर होता है। किन्तु दीपक से कामचलाऊ रोशनी तो मिल ही जाती है। वैसे ही पूर्व-कर्म-कृत पाप के उदय से जब जीवन में अंधेरी रात उतर आती है, तब यह नाम-जप का दीपक इतना उजाला तो दे ही देता है जिससे वह कठिन समय कुछ आसान बन जाए। पथरीला ऊंचा-नीचा रास्ता हो, रात का समय हो, सूरज क्या, चांद की भी रोशनी न हो, अंधरा इतना कि हाथ को हाथ भी न सूझे, ऐसे समय में यदि किसी को यात्रा करनी पड़े, उस स्थिति में हाथ में छोटा-सा टार्च भी सफर में कितना मददगार होता है। उस टार्च की तरह होता है भगवान का नाम, जो जीवन के अंधेरे-भरे सफर में टार्च की तरह मार्ग को रोशन करता है। वह नाम चिनगारी की तरह भीतर प्रवेश कर जाए, फिर तो जन्म-जन्मों के पाप धुल ही जाते हैं।

सारांश यही है नाम-सुमिरन और मन्त्र-जप साधना का एक आसान मार्ग है। चाहे कोई बच्चा है या जवान या वृद्ध, स्त्री है या पुरुष, रोगी है या नीरोग, पढ़ा-लिखा है या अनपढ़, कमजोर है या बलवान, हर कोई व्यक्ति इसकी सरलता से साधना कर सकता है। यदि मन, वाणी और काया नाम या मन्त्र के साथ एकाकार हो जाए, तो उसमें से ज्योति प्रकट होना अनिवार्य है। इसीलिए हर धर्म-परम्परा में नाम सुमिरन और मन्त्र-जाप की इतनी महिमा गाई गई है।

दुनियां मे हूं, दुनियां का तलबगार नहीं हूं

भगवान महावीर आचारांग-सूत्र में फरमाते हैं—

जे गुणे से आवट्टे, से आवट्टे से गुणे

जो गुण हैं, वे आवत हैं, जो आवर्त हैं वे गुण हैं। गुण शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहां गुण का अर्थ है इन्द्रिय-विषय। जो इन्द्रिय-विषय हैं, वे आवर्त हैं। आवर्त यानि भंवर। जैसे भंवर में फंसने के बाद नाव का बाहर निकल पाना अत्यन्त कठिन होता है, दरिया में नाव का डूबना लगभग निश्चित होता है, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों में फंसने के बाद आत्मा का भवसागर में डूबना भी निश्चित ही होता है।

आत्मा है नाविक। नौका है शरीर। संसार भवसागर।

सरीर नाव माहुत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ,
संसारो अण्णवो वुत्तो, तं तरंति महेसिणो।

इस संसार में आवर्त हैं इन्द्रियों के विषय। आंख का विषय है रूप। कान का विषय है शब्द। नाक का विषय है गन्ध। रसना का विषय है रस। और त्वचा का विषय है स्पर्श। देखा गया है कोई-कोई व्यक्ति सुन्दर रूप में अत्यन्त आसक्त होता है; उसके लिए रूप आवर्त हैं। कोई-कोई व्यक्ति मनोहारी शब्दों में आसक्त होता है, उसके लिए शब्द आवर्त हैं। कोई-कोई व्यक्ति मन को लुभाने वाली गन्धों में आसक्त

होता है, उसके लिये गन्ध आवर्त है। मधुर रसों में आसक्त व्यक्तियों के लिए रस आवर्त होता है। कोमल गुदगुदे स्पर्शों में आसक्त व्यक्तियों के लिए स्पर्श आवर्त होता है। जैसे आवर्त में फंसने के बाद नाव का निकलना अत्यन्त कठिन है, वैसे ही अपने-अपने इन्द्रिय-विषय के आवर्त में से इस जीवात्मा का उबर पाना बहुत मुश्किल है।

विषय कैसे बनता है आवर्त

यहां प्रश्न होता है अगर विषय अपने में आवर्त है, फिर तो किसी भी देहधारी के लिए उससे बचना कैसे सम्भव होगा ? आंख का विषय रूप है। वह रूप को नहीं देखेगी तो किसे देखेगी ? आंख है ही रूप विषय को ग्रहण करने के लिये। और विषय का ग्रहण करना ही आवर्त है, फिर तो जो अन्धा है, वही इस आवर्त से बच सकेगा। जो कानों से बहरा है, वही शब्द रूपी आवर्त से बच सकेगा। जिसके पास इन्द्रियां हैं, वह उन इन्द्रियों को काम में लेगा ही, विषयों का ज्ञान इन्द्रियों से करेगा ही, फिर विषय ही आवर्त तो वह संसार से मुक्त कैसे हो सकेगा ?

इसे समझने के लिए थोड़ा गहरे उतरना होगा। दरिया के जल में ही आवर्त होता है, और जल से ही आवर्त होता है। किन्तु जल आवर्त नहीं होता। जल लहरों के रूप में किनारों की ओर बहता रहता है। वहां कोई आवर्त नहीं होता। लहर आई और गई। पानी जैसे उन मौजों के साथ अठखेलियां करता है। किन्तु वही पानी जब एक ही स्थान पर तीव्रता से गोल-गोल चक्कर काटने लगता है, अपने प्रवाह को छोड़कर एक ही जगह पर घूमने लगता है, तब वह आवर्त का रूप ले लेता है। जो पानी लहरों के सहारे बड़े-बड़े जहाजों को दरिया के पार पहुंचाने वाला होता है, आवर्त बनने पर वही पानी

बड़े-बड़े जहाजों को डुबाने वाला हो जाता है, ऐसे-ऐसे खतरनाक विशालकाय आवर्त सागर में पाये जाते हैं, जिनमें फंसने के बाद बड़े-बड़े भीमकाय पोतों का भी पता नहीं चलता।

ठीक यही स्थिति है इन्द्रिय-विषयों की। आंख का धर्म है विषय ग्रहण करना। आंख के सामने कोई सुन्दर रूप आया तो उसने उसे ग्रहण किया, उससे वह रूप आवर्त नहीं बनता। रूप सामने आया तो आंखों में भी आया। रूप सामने से गया, आंखों से भी चला गया। उस अवस्था में रूप आवर्त नहीं बनता। वह आवर्त तब बनता है जब वह सामने से हटने के बाद भी आंखों से हटता नहीं। उस रूप के जाने के बाद भी जब यह मन उसमें गोल-गोल चक्कर काटने लगता है, तब वह आवर्त बन जाता है।

आवर्त बनने का क्रम

ये इन्द्रिय-विषय कैसे आवर्त बनते हैं, इसका पूरा क्रम भगवद्-गीता में बहुत ही व्यवस्थित ढंग से समझाया गया है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

> **ध्यायतो विषयान् पुंसः, संगस्तेषूपजायते**
> **संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोभिजायते**
> **क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः**
> **स्मृति भ्रंशाद् बुद्धि नाशो, बुद्धिनाशाद् प्रणश्यति**

जब शब्द, रूप आदि विषय सामने से हटकर भी अपना रंग पीछे छोड़ जाते हैं, तब व्यक्ति का चित्त उस-उस विषय पर अटक जाता है। वह बार-बार उसी विषय के बारे में सोचता रहता है।' **ध्यायतो विषयान्**...उन विषयों का चिंतन करते हुए व्यक्ति के मन में उनके प्रति संग पैदा हो जाता है। संग से फिर काम उत्पन्न होता है। काम से क्रोध का जन्म होता है। क्रोध से मोह प्रकट होता है। मोह से स्मृति-विभ्रम

हो जाता है। स्मृति-विभ्रम से बुद्धि का नाश हो जाता है। और बुद्धि-नाश ही सर्वनाश का कारण होता है।

इन्द्रिय-विषयों के आवर्त बनने का बहुत साफ सिलसिला श्रीमद्भगवद्-गीता के इन श्लोकों में दरसाया गया है। जब भी वहां संग पैदा हो जाता है, वही संग बढ़ते-बढ़ते विनाश का कारण बन जाता है। रूप में बना पागल पतंगा आग में जलकर भस्म हो जाता है। मधुर बीन की आवाज में पागल बना सर्प सदा-सदा के लिए सपेरे के बन्धन में आ जाता है। कस्तूरी-गन्ध में मस्त बना हरिण दौड़-दौड़कर एक दिन प्राण छोड़ देता है। कांटे में लगे आटे के टुकड़े को पाने के लोभ में मछली खुद जाल में फंस जाती है। प्यार-भरा स्पर्श पाकर बड़े-से-बड़ा हिंसक-पशु भी बन्धन में आ जा जाता है। एक-एक विषय में आसक्त प्राणियों का यह हाल है, जो पांचों ही इंद्रिय-विषयों में आसक्त होता है, उसका क्या हाल होता होगा ?

दो घड़ी नींद का परिणाम

राजकुमारी किसी सुन्दर धनिक युवक पर आसक्त थी। संयोग से राजा-रानी तीर्थ-यात्रा पर चले गए। अब तो राज-कुमारी को खुली छूट मिल गई। प्रेमी युवक को रात्रि में महलों में आने का निमंत्रण दे दिया। दासी को शयन-कक्ष शानदार ढंग से सजाने का आदेश मिला। राजकुमारी को खुश करने के लिए उसने भी जी-जान से शयन-कक्ष को सजाया। मदमाते भड़कीले चित्र, भीनी-भीनी मीठी सुगन्ध, शरीर को गुदगुदाने वाली कोमल फूलों की शय्या। सारी सज-धज के बाद दासी का मन उस शय्या पर सोने को ललचा गया। सोचा, राजकुमारी के आने में तो अभी काफी देर है। क्यों नहीं थोड़ी देर के लिए इस शय्या का आनन्द मैं भी उठा लूं। वह उस शय्या पर सो गई। गहरी नींद में उसे समय का

ध्यान ही नहीं रहा।

इधर राजकुमारी ने शय्या पर दासी को सोते हुए देखा, उसके क्रोध की कोई सीमा नहीं रही। उसने अपने सामने ही कोड़ों की पिटाई का दण्ड दिया। तड़ातड़ कोड़ों की मार उस पर पड़ने लगी। पर दासी रोने-चिल्लाने की बजाय जोर-जोर से हंसने लगी। यह देखकर राजकुमारी को भी आश्चर्य हुआ। उसने दासी से हंसने का कारण पूछा। दासी बोली—राजकुमारी अपनी कर्त्तव्य-मर्यादा को भूलकर दो घड़ी मैं इस सुकोमल शय्या पर सोई, उसका मुझे इतना बड़ा दण्ड भुगतना पड़ रहा है। जो अपनी कुल-मर्यादा और आचार-मर्यादा को भूलकर रात-भर सोयेगा, उसको कितना दण्ड भोगना पड़ेगा, यही सोचकर मुझे हंसी आ रही है।

राजकुमारी की भीतर की आंखें खुल गई। गलत रास्ता छोड़कर वह सही रास्ते पर आ गई। दासी को भी उसने दण्ड से मुक्त कर दिया। इस व्यंग्य के सहारे उसने राजकुमारी की पूरी जीवन-धारा को ही बदल दिया था।

विषयों का ग्रहण दर्पण की तरह हो

अब प्रश्न यह है विषय का ग्रहण कैसे हो, जिससे वह आवर्त न बने। आंख है तो देखना होगा ही। कान है तो सुनना होगा ही। फिर दर्शन-शक्ति, श्रवण-शक्ति तथा अन्य इन्द्रिय-शक्तियों की प्राप्ति भी पुण्य-जनित है, तत्व-भाषा में क्षयोपशम भाव है। पुण्य-योग से ही ये शक्तियां प्राप्त होती हैं। पर ये आवर्त न बने, इसके लिए ज्ञानी पुरुषों ने कहा—तुम दर्पण की तरह विषयों को ग्रहण करो। जैसे दर्पण के सामने जब तुम खड़े होते हो, तब उसमें केवल तुम ही होते हो। दर्पण पूरी तरह से तुम-मय होता है। लेकिन जब तुम दर्पण के सामने से हट जाते हो, क्या उसके बाद भी दर्पण में तुम होते हो ? वहां

से हटने के बाद क्या तुम्हारा कुछ भी चिह्न दर्पण में शेष रहता है ? कुछ भी तो नहीं। दर्पण पूरा-का-पूरा खाली होता है। वस्तु के हटने के बाद दर्पण उसका कोई रंग अपने में नहीं रखता। वह बिल्कुल निस्संग होता है। ठीक इसी प्रकार जब ये इन्द्रियां विषयों का ग्रहण दर्पण की तरह करें, तो यह विषय आवर्त नहीं बन सकेंगे। विषय के हटने के बाद मन में पीछे यदि उसका कोई रंग नहीं बचेगा, तो संग होगा किसमें ?

जिसने रंग और संग के बिना देखना सीख लिया, सुनना सीख लिया, सूंघना, चखना और स्पर्श करना सीख लिया, उसके लिए विषय कहीं भी आवर्त नहीं, उसके लिए कहीं भी बन्धन नहीं, कहीं भी डूबने का खतरा नहीं। वह सब कुछ करते हुए उसका कर्त्ता नहीं होता है, वह सब कुछ भोगते हुए भी उसका भोक्ता नहीं होता है। वह होता है दर्पण की तरह केवल साक्षी। साक्षी-भाव, द्रष्टा-भाव से जो जीना सीख जाता है, भगवान फरमाते हैं, उसके लिए कहीं भी बन्धन नहीं है। इसी को श्रीमद् गीता में अनाशक्ति-योग कहा गया है।

अनासक्त योगी चक्रवर्ती भरत

जैन परम्परा में अनासक्त योग का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है चक्रवर्ती भरत का जीवन। भरत चक्रवर्ती हैं, राजाओं के भी राजा, अखंड भारत के मालिक। चक्रवर्ती बनने के लिए उन्होंने युद्ध भी लड़े हैं, सेनाओं का संचालन भी किया है। शासन-सूत्र की व्यवस्था के लिए राजनीति का सहारा भी लिया है। इधर वे राजमहलों में रहते हैं, राजमहलों का जीवन जीते हैं, बाहरी जीवन को देखते हुए कोई कह ही नहीं सकता कि भरत योगी भी हैं। चक्रवर्ती और योगी—दो विपरीत ध्रुवों पर खड़ा है जीवन। पर भरत चक्रवर्ती दोनों एक साथ हैं—चक्रवर्ती भी, योगी भी।

उनके चक्रवर्ती जीवन का पता पूरे समाज को है, पूरे देश

को है। किन्तु उनके योगी जीवन का पता भगवान ऋषभदेव से मिलता है। अपनी अमृत देशना के प्रसंग में भगवान फरमाते हैं—मरुदेवी भगवती सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था को उपलब्ध हो गई हैं। लोगों ने आश्चर्य भरी नजरों से राजमाता मरुदेवी की ओर देखा, जो अब तक हाथी के ओहदे पर बैठी भगवान की अमृत-वाणी का पान कर रही थी। अब वह वहां नहीं थी। केवल उसका शरीर वहां था। वे तो अनन्त ज्योति को प्राप्त कर चुकी थी।

लोगों की आंखों में उठा आश्चर्य का ज्वार अभी पूरा शांत हुआ ही नहीं था, इतने में भगवान के मुख से दूसरी उद्घोषणा मुखरित हो उठी—भरत जो चक्रवर्ती हैं, वे महलों में रहते हुए—केवल-ज्ञान को प्राप्त करेंगे, आगे चलकर परम पद निर्वाण को भी प्राप्त होंगे। यह घोषणा और भी अद्भुत थी। उपस्थित जन-समुदाय ने इसका हर्ष-ध्वनि से स्वागत किया। किंतु कुछ ऐसे भी थे जिन्हें इन घोषणाओं में भाई-भतीजावाद की गंध आई। उन्होंने व्यंग्य में आपस में बात की—पुत्र तीर्थंकर हैं तो मां सिद्ध, बुद्ध, मुक्त क्यों नहीं होगी? और पिता तीर्थंकर हैं तो पुत्र केवल-ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त करेगा?

भरत के कानों तक यह गुफ्तगू पहुंची। संशय-निवारण के के लिए भरत ने उस व्यक्ति को तेल भरा कटोरा देते हुए कहा—पूरे नगर का चक्कर लगाकर आओ। पर ध्यान रहे, कटोरे में से तेल की एक बूंद भी नीचे नहीं गिरनी चाहिए। अगर एक बूंद कहीं भी गिरी, तो वहीं पर तुम्हारी गर्दन भी धरती पर होगी। नंगी तलवारें लिए दो सैनिक यम-दूतों की तरह साथ कर दिये गये।

उधर अयोध्या में घोषणा कर दी गई, विशेष उत्सव की तरह पूरे नगर को सजाया जाये। सारे बाजारों में दीपावली

की तरह जगमग रोशनी हो, रंग-बिरंगे गुब्बारों से दुकानों की सजधज हो, खूब आतिशबाजी हो, चौराहों पर तरह-तरह के आमोद-प्रमोद हों, खेल हों, नाच-गान हों, नाटक-तमाशे हों। राजाज्ञा के अनुसार पूरे शहर में ऐसा ही किया गया।

सांझ होते-होते तेल का कटोरा यथावत् सम्हाले हुए वह व्यक्ति भी भरत के सामने उपस्थित हुआ। भरत ने पूछा—सारे शहर का चक्कर लगा आये ? वह बोला—आपकी आज्ञा का पालन तो होना ही था। कहीं तेल की बूंद नीचे तो नहीं गिरी, भरत का अगला प्रश्न था। यदि तेल-बूंद गिरी होती तो आप तक मुझे आने कौन देता। यमदूतों की तरह नंगी तलवारें लिये सैनिक साथ ही में तो थे, उसने कहा।

भरत ने फिर पूछा—तुम शहर की गलियों, सड़कों, चौराहों, बाजारों के बीच में से गुजर कर आये हो, जहां तरह तरह के नाच-गान हो रहे थे, गुब्बारे और आतिशबाजी छोड़े जा रहे थे, दुल्हिन की तरह दुकानें सजी हुई थीं, क्या तुमने कुछ भी नहीं देखा ?

क्या सवाल पूछ रहे हैं, आप, वह बोला। मैंने कटोरा और तेल के सिवा कुछ भी नहीं देखा। यद्यपि मैं इन सबके बीच में से गुजरा था, किन्तु मेरा पूरा ध्यान तेल-कटोरे पर था, जिसमें से एक बूंद गिरने का अर्थ था मेरी गर्दन पर तलवार चलना। तेल-बूंद और तलवार—इसके सिवा मैंने पूरे बाजार में कुछ भी नहीं देखा। मैं बाजार में होते हुए भी नहीं था।

यह तुम्हारे लिये दंड नहीं, एक प्रयोग था, भरत बोले। प्रयोग ही नहीं, तुम्हारे प्रश्न का प्रयोगात्मक उत्तर। भगवान ऋषभदेव की घोषणा में तुम्हें भाई-भतीजावाद की गंध आई। और तुम उन पर व्यंग्य बाण छोड़ने में नहीं चूके। वीतराग-प्रभु के लिये न तो कोई मां होती है और न कोई बेटा। उनके

लिये सवत्र वही विराट चेतना होती है, जो हर प्राणी में होती है। इसलिये उनकी वाणी पर संशय का अर्थ होता है, अपने आप पर ही संशय।

मेरे ज्ञान-उपलब्धि की घोषणा के पीछे का कारण उनका पुत्र होना नहीं, इसका कारण है दर्पण की तरह मेरा निस्संग जीवन। जैसे अयोध्या के सजे-धजे, राग-रंग-भरे बाजार में होते हुए भी तुम नहीं थे, वैसे ही इन राजमहलों के राग-रंगों में मैं होते हुए भी नहीं हूं। तुम्हें तो केवल दो-चार घंटों के लिये मौत की तलवार झूलती हुई दिखाई दी थी। मैं तो प्रतिपल उसको देख रहा हूं, फिर मैं इन राग-रंगों में कैसे अपने को भूल सकता हूं। ठीक से समझो तुम—

दुनियां में हूं, दुनियां का तलबगार नहीं हूं,
बाजार से गुजरा हूं, खरीदार नहीं हूं।

ऐसा है भरत का अनासक्त जीवन। उसी का परिणाम है एक बार स्नान के बाद वस्त्र-आभूषण धारण किये, फिर रत्न-जटित सोने की अंगूठी अंगुली में पहनी। अंगूठी पहनते ही अंगुली की शोभा बढ़ गई। वापस अंगूठी को उतारा, अंगुली की शोभा घट गई। मन में आया, क्या यही है इस शरीर का सौन्दर्य, जिस पर आदमी इतना गुमान करता है। अंगूठी नहीं तो सौन्दर्य भी नहीं। विचारों ने मोड़ खाया। भरत आत्म-ध्यान में लीन बने, गहरे से गहरे उतरते चले गए और मोहावरणों को छिन्न-भिन्न करते हुए केवल-ज्ञान को उपलब्ध हो गए।

इन्द्रिय-विषयों में रहते हुए भी भरत के लिए विषय आवर्त नहीं बन पाए। क्योंकि दर्पण की तरह निस्संग भाव से वे विषयों का ग्रहण करते थे। सनातन धर्म में ऐसा ही उदाहरण योगेश्वर श्रीकृष्ण का मिलता है। जैन लोग श्रीकृष्ण के लिये सनातन धर्म की अवधारिणी पर संशय प्रकट करते हैं कि

जिसने उम्र-भर युद्ध लड़े, राजनीति का सहारा लिया, महलों का विलासपूर्ण जीवन जिया, उसे लीला मानकर उनको कर्म-बन्धनों से ऊपर कैसे माना जा सकता है ? मेरी अपनी सोच यह है कि यदि चक्रवर्ती भरत ऐसा जीवन जी सकते हैं, तो वासुदेव श्रीकृष्ण के लीलामय जीवन में क्या बाधा आ सकती है ? फिर बात भरत अथवा कृष्ण तक ही सीमित नहीं है, कोई भी व्यक्ति साधनापूर्ण दृष्टि से जीवन जीते हुए वीतराग-भाव में इन्द्रिय-विषयों का ग्रहण करता है, वहां सिद्धान्तः वे विषय उसके लिए पाप-बन्धन का हेतु नहीं बनते, ऐसा शास्त्रों का स्पष्ट अभिमत है।

दर्पण-सा जीवन जीना आसान नहीं

किन्तु यहां यह समझ लेना चाहिए कि ऐसा दर्पण-सा निस्संग जीवन जीना कोई आसान काम नहीं है। जन्म-जन्मों की तपस्या और साधना के बाद ही यह ऊर्ध्वगामी भूमिका प्राप्त हो पाना संभव होता है। इस निस्संगता और अनासक्ति के नाम पर कई व्यक्तियों को अपने पापाचार का पोषण करते भी देखा गया है। क्योंकि यह भूमिका—**क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया**—तलवार की तीखी धार पर चलने के समान होती है, जिस पर कोई सधा हुआ पांव ही चल सकता है। साधरणतया तो तलवार की धार पर चलने वाले फिसलते तो हैं ही, लहूलुहान भी होते हैं। इसीलिए तो इन्द्रिय-विषयों को आवर्त बताया गया है—**जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे**—जो गुण हैं, शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श आदि जो इन्द्रिय-विषय हैं, वे आवर्त हैं। और जो असली आवर्त हैं, वे इन्द्रियों के विषय ही हैं। जो इन आवर्तों से बचकर अपनी नौका खेता है, वही इस संसार-समुद्र का पार पाता है।—**तं तरंति महेसिणो।**

कोऽहं का उत्तर है सोऽहं

आत्म-तत्त्व को जानना/समझना बहुत कठिन है। जो तत्त्व न आंखों से देखा जा सके, न कानों से सुना जा सके, न नासिका से सूंघा जा सके, न जीभ से चखा जा सके, न हाथ आदि द्वारा जिसका स्पर्श किया जा सके, न मन या बुद्धि का जो विषय बन सके, उसे मानना या जानना या समझना कोई आसान काम तो नहीं है। इस जटिल स्थिति में जो आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं, उनके सामने अनेक प्रश्न ऐसे खडे रह जाते हैं, जिनका बुद्धि-गम्य उत्तर नहीं मिल पाता है। किन्तु यह स्थिति केवल आस्तिकों की, आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारने वालों की ही नहीं है, जो अपने को नास्तिक कहते हैं, जिन्हें आत्मा-परमात्मा आदि में विश्वास नहीं है, उनके सामने ऐसे अनेक प्रश्न रह जाते हैं, जिनका निश्चित उत्तर उनके पास भी नही है। कहा जा सकता है आज जिस भूमिका पर हम हैं, उस पर, न निश्चय से आस्तिक कोई संतोषजनक उत्तर दे सकता है और न कोई नास्तिक भी। इसका कारण क्या है?

आत्मा अल्प है

इसका प्रमुख कारण है आत्मा का अल्प होना। आस्तिकों का कहना है जिस आत्मा का स्वरूप ही अल्प है, उसे कैसे देखा जा सकता है, कैसे सुना जा सकता है, कैसे सूंघा जा सकता है, कैसे चखा जा सकता है और कैसे उसका स्पर्श किया जा

सकता ? वह इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता, अमूर्त जो है—

णो इंदिय गेज्झ अमुत्तभावा
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चं

इन दो पदों में भगवान महावीर ने दो महत्त्वपूर्ण उद्घोषणाएं की हैं। पहली, कि आत्मा अमूर्त है, इसलिए इन्द्रियां इसे ग्रहण नहीं कर सकती। इन्द्रिय-ग्राह्य नही है आत्मा, क्योंकि आत्मा अरूप है। उसका कोई रूप या आकार नहीं है। जबकि इन्द्रियों का विषय वही पदार्थ बन सकता है, जिसका अपना कोई रूप या आकार हो। मन या बुद्धि का विषय भी आत्मा नहीं है—

सव्वे सरा नियट्टंति
तक्का जत्थ न विज्जई
मई तत्थ न गाहिया

सारे शब्द उस आत्म-जगत से टकराकर वापस लौट आते आते हैं, तर्क की वहां पहुंच नहीं है और न ही बुद्धि का वहां प्रवेश है। 'अरूवी सत्तां' अरूप सत्ता है वह। फिर इन्द्रियां, मन, बुद्धि, इनका वहां प्रवेश हो कैसे ? समझ के लिए हमारे पास जो साधन हैं, वे इन्द्रियां, मन और बुद्धि ही हैं। भगवान महावीर कहते हैं, इनके द्वारा आत्मा का ग्रहण संभव नहीं है। श्रीमद् भगवद्-गीता भी इसी तथ्य की ओर इशारा करती है—

इंद्रियाणि पराण्याहु, इन्द्रियेभ्यो परं मनः
मनसस्तु परा बुद्धि यो बुद्धे परतस्तु सः

अर्जुन, इन्द्रियां पर हैं। उनसे भी पर है मन। मन से पर है बुद्धि, और जो बुद्धि से भी पर है, वह 'वह' है। यानि जो इन्द्रियां, मन और बुद्धि से परे है, वह है आत्मा। आस्तिक-दर्शन की आत्मा के बारे में यह पहली उद्घोषणा हैं।

दूसरी उद्घोषणा में भगवान फरमाते हैं—अमुतभावा वि

य होई णिच्चं—अमूर्त पदार्थ सदा नित्य होते हैं; शाश्वत होते हैं। इस उद्घोषणा का अर्थ है आत्मा अरूप तो है ही, ध्रुव, नित्य और शाश्वत भी है। इसलिए आत्मा का न जन्म होता है, न मृत्यु होती है, वह अजर है, अमर है, अज है। उस आत्मा का न छेदन होता है, न भेदन होता है, उसे न कोई जला सकता है, न कोई मार सकता है—सन छिज्जइ, न भिज्जइ, न डज्झइ, न हम्मइ। भगवद्गीता की घोषणा का स्वर भी यही है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः

इस आत्मा को न शस्त्र छेदन कर सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल इसे गला सकता है और न हवा इसे सुखा सकती है। इसका अर्थ यह है कि आत्मा अरूप होने के कारण रूप या मूर्त पदार्थों में पाए जाने वाले विकार उसमें नहीं होते। मूर्त पदार्थों के इसी विकार—धर्म को ध्यान में रखते हुए भगवान महावीर ने इनके लिए एक शब्द दिया—वह है पुद्गल। पुद्गल का अर्थ है जिसमें गलन-मिलन निरन्तर होता हो। पुद्गल रूपवान होता है। वही इंद्रियों का विषय बनता है। उसका छेदन-भेदन हो सकता है, उसको जिलाया-मिटाया जा सकता है। जिसको मिटाया जा सकता है, उसे बनाया भी जा सकता है। इस प्रकार जन्म-मरण, निर्माण-विनाश आदि पुद्गल में होते हैं, शरीर में होते हैं। आत्मा इन सबसे परे है।

अनुभव-गम्य है आत्मा

जोधपुर शहर का प्रसंग है। एक प्रोफेसर साहिब मेरे पास आए, जो जीव-विज्ञान में लन्दन से ऊंची डिग्री हासिल करके आए थे। अपनी ऊंची पढ़ाई का अहंकार उनकी हर बात में झलक रहा था। अपने प्रश्नों की भूमिका बांधते हुए उन्होंने कहा—मेरे हर प्रश्न का उत्तर बिल्कुल साफ-सुथरा

और तर्क-सम्मत होना चाहिए। गोलमोल उत्तर और शास्त्रों की दुहाई हम नहीं मानने वाले हैं। अब वह समय लद गया है कि आप संत-लोग कुछ भी कह दें, हम बन्द आंखों से उसे स्वीकार कर लें। हमारे पूर्वज अनपढ़ होते थे, सन्त-पुरुषों के प्रति श्रद्धाशील भी। इसलिए आप लोग जो भी कहते, वे उसे श्रद्धा-वश स्वीकार कर लेते। अब हम पढ़े-लिखे हैं। तर्क-संगत उत्तर को ही हम मान सकते हैं, अन्यथा नहीं।

मैं उन प्रोफेसर साहिब को मौन सुनता रहा। लम्बी-चौड़ी भूमिका के बाद वे बोले—क्या आपने आत्मा का अनुभव किया है ? मैं उत्तर में कुछ कहूं, उससे पहले ही वे फिर बोले—मुझे उत्तर केवल 'हां' या 'ना' में चाहिए। मैंने कहा—आत्मा का अनुभव तो प्रतिक्षण होता है। जिसका आपको अनुभव हो रहा है, क्या आप मुझे भी उसे दिखा सकते हैं ? उनका अगला प्रश्न था।

आत्मा का तो अनुभव ही किया जा सकता है, वह कोई देखने-दिखाने की चीज तो नहीं, मैंने कहा।

देखिये, आप फिर गोलमोल उत्तर देने लग गए, वह बोले। हम आज विज्ञान के युग में जीते हैं। हमारी शिक्षा के साथ विज्ञान जुड़ा है। विज्ञान के वातावरण में ही हम पले-पुसे हैं। इसलिए इन उत्तरों को मानने वाले नहीं। हम तो उसी वस्तु के अस्तित्व को मान सकते हैं, जिसे आप हमको स्पष्ट रूप से दिखा सकें।

जिस मकान में ठहरे हुए थे, उसके दरवाजे के ठीक सामने एक पीपल का पेड़ था। हवा से पेड़ के पत्ते हिल रहे थे। मैंने उन पत्तों की ओर इशारा करते हुए उनसे पूछा—इन पत्तों को कौन हिला रहा है ?

हवा, उनका उत्तर था। क्या आप उस हवा को देखते हैं? मेरे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा—नहीं, किन्तु स्पर्श के द्वारा उसका अनुभव होता है। क्या उस अनुभव को अथवा अनुभव में आने वाली वस्तु को हाथ पर रख कर हमें भी दिखा सकते हैं?

यह कैसे सम्भव है, वे बोले। हवा का तो स्पश के द्वारा अनुभव ही किया जा सकता है। उसे दिखाया नहीं जा सकता।

जिसे दिखाया नहीं जा सकता, विज्ञान-युग में पले-पुसे आप क्या उसका अस्तित्व स्वीकार कर लेंगे?

मैं अपनी पूर्व धारणा में थोड़ा-सा संशोधन करता हूं, उन्होंने कहा जो देखी-दिखाई न जा सके, किन्तु जिसको सुना जा सके, सूंघा जा सके, स्पर्श द्वारा जिसका अनुभव किया जा सके, उन सबका अस्तित्व होता है। किन्तु आत्मा का अस्तित्व फिर भी कैसे माना जा सकता है। आत्मा न शब्द की तरह सुनी जा सकती है, न गंध की तरह सूंघी जा सकती है, न हवा की तरह उसके स्पर्श का अनुभव किया जा सकता है। फिर आत्मा के अस्तित्व को कैसे माना जा सकता है?

यह भी मानेंगे आप, मैंने कहा। इतना तो मान गए, जो देखी-दिखाई न जा सके, उसका भी अस्तित्व हो सकता है। अब यह बताएं—जो दीख रहा है, उसे देखने वाला कौन है? शब्दों को सुनने वाला कौन है? गंध, रस और स्पर्श का अनुभव करने वाला कौन है?

उन्होंने कहा—इसका उत्तर तो बहुत साफ है। इन्द्रियां शब्द, रूप आदि विषयों को ग्रहण करती हैं, उनके पीछे होता है मन। मन ही देखने, सुनने, अनुभव करने वाला होता है। अगर मन अन्यत्र हो तो आंख रूप को देखते हुए भी नहीं

देखती है, कान शब्द को सुनते हुए भी नहीं सुनते हैं। तो यह मन ही है जो देखने-सुनने वाला है।

मन है देखने-सुनने वाला, अनुभव करने वाला, उस मन का अस्तित्व क्या विज्ञान से सिद्ध किया जा सकता है ? क्या मन, आंख-कान आदि इन्द्रियों का विषय हो सकता है ? क्या अदृश्य हवा की तरह इस मन का स्पर्श के द्वारा अनुभव किया जा सकता है ? अगर नहीं, तो आप विज्ञान वाले मन का अस्तित्व कैसे मान सकेंगे ?

इस बार प्रोफेसर साहिब कुछ असमंजस में लगे, मैंने फिर कहा, इन्द्रियां मन के सहयोग से ही काम करती हैं, किन्तु जब इन्द्रियां काम न भी कर रही होती हैं, तब भी मन तो होता है। न आंख देख रही होती है, न कान सुन रहा होता है, न नाक सूंघ रहा होता है, न जीभ चख रही होती है, न शरीर स्पर्श का अनुभव कर रहा होता है, फिर भी मन अपना काम कर रहा होता है। क्या होता है यह मन ? इसे मान लेने पर इसे कैसे सिद्ध करेंगे आप ?

किन्तु मन के ऊपर किसी चेतन को मानने की क्या जरूरत है, प्रोफेसर साहिब बोले।

जैसे इन्द्रियां न होने पर भी मन होता है, वैसे ही मन न होने पर भी हम होते हैं, मैंने कहा। जब हम नींद में होते हैं, तब मन भी सक्रिय कहां होता है। फिर भी भीतर बहुत कुछ सक्रिय होता है। बहुत कुछ क्या शरीर का पूरा तन्त्र ही सक्रिय होता है। केवल इन्द्रियां और मन निष्क्रिय होते हैं, नींद में इनके अलावा पूरा शरीर-यंत्र कार्यरत होता है।

किसी चोट आदि के कारण कई बार आदमी बेहोश हो जाता है। बड़े आप्रेशन में डाक्टर मरीज को बेहोश कर देते

हैं। बेहोशी की उस हालत में न इन्द्रियां काम करती हैं, न मन और बुद्धि। फिर भी कोई है जो पूरे शरीर-यंत्र को कार्यशील बनाए रखता है। जिसके होने पर अस्वस्थ, रुग्ण, बेहोश व्यक्ति भी जिन्दा होता है, क्रियाशील होता है, प्राणवान् होता है। और जिसके न होने पर मन, इन्द्रियां और पूरा शरीर-तंत्र स्वस्थ होने पर भी निष्क्रिय और निष्प्राण हो जाता है। वह कौन हो सकता है? उसे आप किस शब्द से पुकारना पसन्द करेंगे?

प्रोफेसर साहिब ने अपने ललाट पर आए पसीने को पोंछते हुए कहा—वह जो भी है, अगर वही इस शरीर-यन्त्र को और इसके पूरे तन्त्र को सक्रिय और प्राणवान रखता है, तो वह शरीर के भीतर कहीं मिलता क्यों नहीं? हमने शरीर के एक-एक अंग को काट-काट कर देखा है, भीतर चेतन अथवा आत्मा नाम का कोई तत्व मिला ही नहीं। जो चीज भीतर हो, और वह मिले नहीं, यह कैसे हो सकता है?

वीणा में कहां होता है संगीत

मैंने कहा—एक वैज्ञानिक एक बार एक संगीत-समारोह में गया। उसमें वीणा-वादन का कार्यक्रम उसे खूब पसन्द आया। वह सोचने लगा, इतनी मधुर संगीत-लहरी इस वीणा में कहां से आ रही है। उस संगीत-लहरी का पता लगाने के लिए वह वीणा खरीद लाया। वीणा के तारों की झनझनाहट में से ही वह मधुर संगीत-लहरी प्रस्फुटित होती थी। उसने पहले उन तारों के टुकड़े-टुकड़े किए, पर वह संगीत-लहरी कहीं नहीं मिली। वह इस निर्णय पर पहुंचा कि संगीत-लहरी वीणा में से नहीं, कहीं और से आ रही थी। अगर वह वीणा में से ही आती, तो वीणा में जरूर मिलती। अब प्रोफेसर साहिब, आप ही बताएं, क्या वह संगीत-लहरी वीणा

में से ही नहीं आ रही है? यदि उसमें से ही आ रही है, तो उन वैज्ञानिक महोदय को उसके भीतर मिली क्यों नहीं? प्रोफेसर साहिब मौन थे। मैंने फिर कहा—आपका तर्क है, आत्मा अगर हमारे भीतर है तो शरीर के एक-एक अंग को चीरफाड़ में वह कहीं भी मिलती क्यों नहीं। जाने दें आप एक बार आत्मा के प्रश्न को, मन का अस्तित्व तो आप बुद्धि-जीवी भी स्वीकार करते हैं। और यह मन निरन्तर कुछ न कुछ चिन्तन करता ही रहता है। मैं जानना चाहता हूं इस तन की शल्य-क्रिया में कहीं भी यह मन और उसका चिन्तन मिलता है? शरीर के अन्य अंगों-उपांगों की तरह शल्य-क्रिया में न मन मिलता है, न बुद्धि मिलती है, न सोच की कोई रासायनिक प्रक्रिया का विश्लेषण विज्ञान के पास है, फिर आत्मा के अस्तित्व पर ही संशय क्यों होता है? जबकि आत्मा के अस्तित्व के समर्थन में सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जब मन, बुद्धि, इन्द्रियां काम न कर रही होती हैं, तब भी कोई इस शरीर-यन्त्र का संचालन कर रहा होता है और पूरा शरीर-यन्त्र तथा मन-बुद्धि का तन्त्र पूर्णतया स्वस्थ-सक्रिय होने पर भी जिसकी अनुपस्थिति में सब कुछ ठप्प हो जाता है, निष्क्रिय और निष्प्राण हो जाता है, वह आत्मा नहीं तो और क्या हो सकती है?

प्रोफेसर साहिब मेरी इस दलील पर काफी आश्वस्त से थे। फिर भी यही कहा—मुझे आपने सोचने के लिए बहुत कुछ दिया है, मैं इस पर पूरी तरह से विचार करूंगा।

शरीर रथ, आत्मा रथी

उपनिषद् के ऋषियों ने आत्मा और शरीर के सम्बन्ध का बहुत सुन्दर विश्लेषण देते हुए कहा—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथ मेव तु
बुद्धि तु सारथि विद्धि, मनः प्रग्रह मेव च
इन्द्रियाणि हयान्याहुः, विषयान् इन्द्रिय-गोचरान्।

आत्मा है रथी—रथ का मालिक। शरीर है रथ। बुद्धि है सारथि। मन है लगाम। इन्द्रियां हैं घोड़े। इन्द्रिय विषय है चारागाह, जहां इन्द्रियां चरती हैं। इस रथ के रूपक से ऋषि-मनीषियों ने आत्मा और शरीर के सम्पूर्ण सम्बन्धों का बहुत स्पष्ट चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। शरीर रथ है, रथी नहीं, मालिक नहीं। मालिक तो आत्मा है। अगर रथ का कोई मालिक नहीं, यह किसी के काम कैसे आएगा? बल्कि रख-रखाव के अभाव में धीमे-धीमे वह जीर्ण-शीर्ण होकर स्वयं बिखर जाएगा। मालिक को अपने जीवन-सफर के लिए रथ चाहिए। वह रथ है शरीर। रथ को अपने उपयोग के लिए मालिक चाहिए। वह मालिक है आत्मा। आत्मा जब शरीर रथ को छोड़ देता है, तब रथ सही-सलामत होते हुए भी बेकार हो जाता है।

रथ को खींचने के लिए घोड़े चाहिये। वे घोड़े हैं इन्द्रियां। इन्द्रियां ही तो इस शरीर-रथ को निरन्तर दौड़ाती रहती हैं। घोड़ों पर नियन्त्रण रखने के लिए लगाम की जरूरत होती है। यह मन ही वह लगाम है। सारथि लगाम को हाथ में रखे हुए अपने मालिक के आदेश के अनुसार रथ का संचालन करता है। वह सारथि है बुद्धि, जो मन-लगाम को हाथ में लिए इन्द्रिय घोड़ों का मालिक की आज्ञा के अनुसार संचालन करती है। इस रूपक के द्वारा आत्मा और शरीर का स्पष्ट चित्र उजागर हो जाता है। और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और शरीर एक नहीं, किन्तु भिन्न हैं।

आत्मा और शरीर का भेद-ज्ञान

आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं, यह ज्ञान हमारे अस्तित्व के साथ सहज रूप से जुड़ा हुआ है। अस्तित्व की अभिव्यक्ति के समय वह हमारी वाणी में अनायास प्रकट भी होता है। जब हम कहते हैं—मेरा शरीर अभी अस्वस्थ चल रहा है, इस अभिव्यक्ति में शरीर से भिन्न मेरा अस्तित्व चल रहा है, इस अभिव्यक्ति में शरीर से भिन्न मेरा अस्तित्व है, यह स्वयं प्रकट हो जाता है। जसे हम कहते हैं–मेरा वस्त्र, यानि मैं अलग हूं, वस्त्र अगल है, मेरा मकान यानि मैं अलग हूं मकान अलग है, उसी तरह मेरा शरीर, इसमें स्वयं स्पष्ट है कि मैं अलग हूं और मेरा शरीर अलग है। मेरा शब्द सम्बन्ध-सूचक है। यह दो वस्तुओं के बीच सम्बन्ध की सूचना देता है। यदि शरीर ही मैं होता तो मैं और शरीर के बीच सम्बन्ध-सूचक 'मेरा' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं होती। किन्तु ऐसा होता है, मैं और शरीर का सम्बन्ध बनाने के लिए मेरा शब्द का प्रयोग करना पड़ता है, यह स्वयं इस बात का प्रमाण है कि आत्मा और शरीर एक नहीं, अलग-अलग हैं।

आत्मा ही परमात्मा

अब प्रश्न होता है परमात्मा क्या है? 'परमात्मा' दो शब्दों के जोड़ से बना है। परम+आत्मा=परमात्मा। आत्मा की परम अवस्था का नाम है परमात्मा। आत्मा अपने में शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त बल है। वह सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है किन्तु अभी वह आत्मा कर्म-आवरणों से ढकी हुई है। कर्म-बन्धनों में होने के कारण वह अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर मोह-माया; ममता के घेरे फंसी हुई है। इस मोह-माया-ममता के कारण ही वह संसार-चक्र में भटक रही है। आत्मा के जन्म-मरण का

कारण भी यही है। वैसे तो आत्मा अजन्मा है, अमर है, ध्रुव, नित्य, शाश्वत है। किन्तु मोह-आवरणों के कारण वह जन्म-मरण करती है। इन आवरणों के दूर होने पर वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। आत्मा के उस शुद्ध स्वरूप का नाम ही परमात्मा है। जन्म-मरण करने वाली आत्मा है, जीवात्मा व जन्म-मरण से मुक्त आत्मा का नाम है परमात्मा।

अकबर के तीन सवाल

कहते हैं एक बार अकबर ने बीरबल से पूछा—तुम हिंदुओं का भगवान रहता कहां है, वह मिलता कैसे है, वह करता क्या है, इन तीन प्रश्नों के उत्तर मुझे सात दिनों के भीतर-भीतर मिलने चाहिए। अगर सात दिनों में तुम उत्तर नहीं दे पाते हो तो तुम्हारी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली जाएगी।

बीरबल बोला—जहांपनाह, आत्मा-परमात्मा से संबन्धित इन प्रश्नों का उत्तर तो आप किसी संत-महात्मा-फकीर से पूछिए। मैं इन प्रश्नों के बारे में क्या जानूं। मैं तो राज-काज से सम्बन्धित सवालों का जवाब दे सकता हूं। अब रही संपत्ति की बात, वह तो आपकी ही है, जब चाहें, ले लें।

नहीं, बीरबल, इन सवालों के जवाब मुझे तुमसे ही लेना है, और उत्तर सात दिनों में मिल जाने चाहिए।

बेचारा बीरबल, बोले तो क्या बोले। वह समझ गया, बादशाह मुझे तथा मेरे धर्म को अपमानित करना चाहता है। अपना-सा मुंह लेकर घर आ गया। चेहरे पर चिंता की रेखाएं उभर आईं। तीन-चार दिनों के बाद तो नींद और भूख भी गायब हो गई।

बीरबल के पुत्र ने यह देखकर पिता से चिंता का कारण पूछा। ज्यादा आग्रह करने पर बीरबल ने पूरी स्थिति की

जानकारी देते हुए कहा—बेटे, तीन दिनों बाद अगर मैं उत्तर न दे पाया तो बादशाह अपनी पूरी इज्जत को मिट्टी में मिला देगा। यही चिंता मुझे खाए जा रही है।

आप व्यर्थ में ही चिंता का भार ढो रहे हैं, बेटे ने कहा। इन प्रश्नों के उत्तर तो मैं ही दे दूंगा। मैं दादाजी के साथ सत्संग में जाता रहता हूं। वहां मैंने संत-पुरुषों के मुख से आत्मा-परमात्मा पर खूब सुना है। इसलिए इन प्रश्नों के उत्तर मैं जानता हूं। आप चिंता-मुक्त हो जाएं, आराम से खाएं, सोएं। आठवें दिन बादशाह से इतना-सा कह दें कि इन प्रश्नों के उत्तर तो इतने सरल हैं, कि मेरा बेटा ही देगा।

आठवें दिन दरबार खचाखच भरा था। अनेक लोगों के मन में बीरबल के उत्तरों के प्रति उत्सुकता थी। कुछ ऐसे भी थे जिनकी नजर बीरबल की इज़्जत पर थी। समय पर बीरबल दरबार में हाजिर हुआ। अकबर ने अपने प्रश्नों के उत्तर मांगे। बीरबल ने कहा, जहांपनाह, जब मेरे बेटे ने इन प्रश्नों के बारे में सुना, तो वह बोला—इतने सीधे-सरल प्रश्नों का उत्तर तो मैं ही दे दूंगा। आप इनके लिए बिल्कुल तकलीफ़ न करें। इसलिए इन सवालों के उत्तर मेरा बेटा ही देगा।

लड़के को बग्घी भेजकर बुलाया गया। कहते हैं लड़का बीरबल से भी ज्यादा तेज था। बादशाह को अभिवादन करके वह एक ओर खड़ा हो गया। बादशाह ने उससे कहा—अपने पिता के स्थान पर क्या तू उत्तर देगा? बालक ने निर्भयता से हामी भर ली। तो बोलो क्या उत्तर हैं मेरे प्रश्नों का?

बादशाह अपने प्रश्नों को दुहराए, उससे पहले ही बालक बोल उठा—मैं आपके प्रश्नों का जवाब जरूर दूंगा, किन्तु दरबार का अपना कुछ शिष्टाचार भी होता होगा। आए हुए अतिथि को आसन देना, खाने-पीने की मनुहार करना, ये साधारण शिष्टाचार हर नागरिक के लिए करणीय होते हैं।

फिर यह तो बादशाह का दरबार है और मैं अपने-आप से नहीं आया हूं। मुझे बुलाया गया है। प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए आपने स्वयं आमंत्रित किया है। क्या आसन देना दरबार का शिष्टाचार नहीं ?

बादशाह बेचारा सकपका गया। उसने उसे बैठने के लिए आसन की ओर इशारा किया। इतने में वह फिर बोल उठा। आप गुरु-भाव से प्रश्न पूछ रहे हैं या शिष्य-भाव से। आप जानते हैं—शिष्य प्रश्न पूछता है और गुरु से उत्तर लेता है। इसलिए गुरु का आसन ऊंचा होता है, शिष्य का नीचा। अब आप स्वयं विचार लें, मेरा आसन कहां होना चाहिए।

उसकी तेज-तर्रार वाणी सुनकर बादशाह अवाक् रह गया। उसने उसकी बुद्धि का लोहा मन-ही-मन मान लिया। उसे बैठने के लिए बादशाह को अपने से भी ऊंचा आसन देना पड़ा। अब उसका आसन था ऊंचा, बादशाह का नीचा। बादशाह बड़ी सावधानी से उससे व्यवहार करने लगा। पूछा उससे, क्या पीना पसन्द करोगे, ठंडा या गरम, दूध-चाय या शरबत। वह बोला—मैं अभी बालक हूं। बच्चों को दूध ही पसन्द होता है, इसलिए मेरे लिए एक कटोरा दूध मंगवा दीजिए।

उसके सामने तत्काल दूध आ गया। हाथ में कटोरा लेकर वह दूध में झांक-झांककर देखने लगा। बादशाह ने यह देखकर पूछा—अरे बालक, दूध में यों झांक-झांककर क्या देख रहे हो ? भोला-सा बनते हुए उसने कहा—मैंने सुना है दूध में घी होता है। मैं देख रहा हूं वह घी कहां है। मुझे तो वह कहीं भी नजर नहीं आ रहा है।

बादशाह हंसे। बोले—यह ठीक है कि घी दूध में ही होता है। किन्तु वह यों नजर थोड़े ही आता है। उस घी को पाने के लिए पहले दूध को जमाकर दही बनाया जाता है। फिर

दही को बिलोया जाता है। तब उसमें से मक्खन निकलता है। मक्खन को आग पर तपाया जाता है। तपने पर छाछ का अंश अलग हो जाता है। तब कहीं घी प्रकट होता है। इतनी प्रक्रिया के बाद घी मिलता है। ऐसे दूध में घी थोड़े दिखाई पड़ता है।

बहुत ठीक बताया बादशाह आपने, बच्चा बोला। अब आप अपने सवाल एक-एक करके पूछते जाएं।

अकबर बोले—पहला सवाल यह है कि परमात्मा रहता कहां है ?

राजन्, जैसे दूध में घी रहता है, वैसे ही हर आत्मा में परमात्मा विराजमान है, बच्चे ने कहा।

दूसरा सवाल—अगर हर आत्मा में परमात्मा होता है तो वह मिलता कैसे है ?

जैसे दूध को पहले जमाया जाता है, फिर मथा जाता है, फिर तपाया जाता है, तब घी मिलता है, वैसे ही इस मन को जप-ध्यान से जमाया जाता है, ज्ञान से मथा जाता है, तप से तपाया जाता है, तब आत्मा में परमात्मा प्रकट होता है।

दोनों उत्तरों से बादशाह बहुत खुश हुए। बोले—मेरा तीसरा सवाल है वह परमात्मा करता क्या है ?

वह करता क्या है ? वह बोला, बादशाह साहिब, क्या अभी तक आपके समझ में नहीं आया ? वह ऊपर वाले को नीचे करता है और नीचे वाले को ऊपर। यह उसी की कृपा का फल है। जो मुल्क के बादशाह होते हुए भी आज आपका आसन नीचा है और मेरा आसन ऊंचा। मैं ऊंचे आसन पर बैठा हूं और आप नीचे आसन पर। इतना होते हुए भी आप मुझे पूछ रहे हैं कि वह करता क्या है।

बादशाह को काटो तो खून नहीं। इतने तीखे उत्तर की

आशा उन्हें नहीं थी। किन्तु बोलें तो भी क्या बोलें। मन-ही-मन कड़वी घूंट को पीते हुए वह बोले—बच्चे, हम तुम्हारे उत्तरों से बहुत खुश हैं। और मान गए कि बीरबल से भी ज्यादा तेज बीरबल का बेटा है। अकबर ने उसे ढेर सारा ईनाम भी दिया।

जप-तप से मिलते हैं परमात्मा

कथा का निष्कर्ष यह है कि हर आत्मा में परमात्मा है। जप-तप से वह उपलब्ध होना सम्भव है। जब तक उस अवस्था को हम प्राप्त नहीं होते हैं, अपने-अपने कर्म के अनुसार हमें अपने फल मिलते रहते हैं।

उस परमात्म-तत्व को पहचानने के लिए सबसे पहले आत्म-तत्व को जानना जरूरी है। वस्तुतः आत्म-से भिन्न परमात्मा है ही नहीं। हमें आत्मा का ज्ञान नहीं, इसीलिए परमात्मा की पहचान नहीं है। आत्म-ज्ञान होने के साथ ही परमात्मा स्वयं उपलब्ध हो जाता है।

आत्म-ज्ञान की कक्षा का पहला पाठ यह है कि आत्मा पर हमारी अविचल श्रद्धा हो। हमारा यह दृढ़ विश्वास हो मैं आत्मा हूं, शरीर नहीं। न मैं शरीर हूं, न इंद्रियां, न मैं मन हूं न मैं बुद्धि, मैं केवल आत्मा हूं, केवल आत्मा।

उस आत्मा को न आंखों से देखा जा सकता है, न कानों से सुना जा सकता है, न नाक से सूंघा जा सकता है, न जीभ से चखा जा सकता है, न हाथ आदि से उसका स्पर्श किया जा सकता है। उसका केवल अनुभव किया जा सकता है।

केवल अनुभव का विषय है वह आत्मा। हम उसका अनुभव करने की कोशिश करें। अवश्य होगा हमें उसका अनुभव। वह अनुभव ही सच है। वहीं मैं हूं, वही मैं हूं। कोऽहं का ही अन्तर है—सोऽहं, सोऽहं, सोऽहं।

हाथों की शोभा दान है, कंगन नहीं

नगर से दूर, नदी के किनारे एक महात्मा जी प्रकृति की शोभा निहार रहे हैं। तभी नदी के पानी में बहती हुई एक लाश किनारे की झाड़ियों में अटक गई। स्वामीजी की नजर उस लाश पर पड़ी। चहरा जाना-पहचाना था। इतने में जंगल से एक सियार भी उस लाश को खाने के लिए आ गया। स्वामी जी ने सियार से कहा—

हस्तौ दान विवर्जितौ श्रुति-पटौ सारस्वत-द्रोहिणौ
नेत्रे साधु-विलोकनेन-रहिते पादौ न तीर्थं गतौ
अन्यायार्जित-वित्त पूर्ण मुदरं गर्वोद्धतं मस्तकं
रे रे जम्बुक ? मुंच मुंच सहसा नीचस्य निन्द्यं वपुः

ओ जम्बुक, मैं जानता हूं, तू अपना भोजन देखकर यहां आया है। किन्तु यह शरीर निन्दनीय है। तेरे खाने योग्य नहीं है, यह एक नीच का शरीर है। इसलिए तू इसे छोड़ दे, परे हट जा, यह लाश इस योग्य नहीं है जो तेरा आहार बन सके।

सियार महात्मा जी की वाणी का रहस्य न समझ सका। वह स्वामी जी को अवाक् देखने लगा। स्वामी जी बोले, यह शरीर आहार योग्य क्यों नहीं है, इसका कारण सुन। मैं इसके एक-एक अंग के अभक्ष्य होने का कारण बता रहा हूं।

हस्तौ दान-विवर्जितौ—इसके हाथ इसलिए खाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इन हाथों से कभी दान नहीं दिया गया। इन हाथों

ने कभी किसी सन्त-पुरुष को, किसी जरूरत-मन्द को कभी दान देना सीखा ही नहीं। सदा लेना ही लेना सीखा, सदा बटोरना ही बटोरना सीखा, सदा संग्रह करना ही सीखा, अर्जन करना ही सीखा, कभी देना भाया ही नहीं है, विसर्जन करना अच्छा लगा ही नहीं। अतः ये हाथ अपवित्र हैं, ये आहार योग्य नहीं हैं, इसलिए तू इन हाथों को खाने की चेष्टा न कर।

हाथ की शोभा दान है, कंगन नहीं। लौकिक दृष्टि में हाथ की शोभा कंगन हो सकता है, किन्तु लोकोत्तर दृष्टि में वे हाथ ही पूजनीय हैं, जो निष्काम और निस्वार्थ भाव से दान देना जानते हैं। दान की महिमा सभी धर्म-सम्प्रदायों में समान-रूप से गाई है। भगवान महावीर ने मोक्ष के चार मार्ग बतलाए हैं– दान, शील, तप और भावना। इनमें सबसे पहला दान ही है। इसी प्रकार सनातन धर्म, बुद्ध धर्म, ईसाई धर्म आदि सबने दान का महत्त्व स्वीकार किया है।

दान की महिमा के अनेक कारण हैं। सबसे पहला कारण है दान से धन-माया के प्रति आसक्ति टूटती है, संग्रह-वृत्ति क्षीण होती है, परस्पर उपग्रह, परस्पर सहयोग का भाव जगता है, संवेदना का विस्तार होता है। व्यक्ति की संवेदना लगभग स्व तक सिमटी हुई होती है। मैं और मेरा यहीं तक सीमित होती है। वह उसी स्व के लिए सब कुछ बटोर लेना चाहता है। दान में उस स्व की संवेदना का विस्तार होता है। अपना परिवार ही नही, समाज भी मेरा है, राष्ट्र भी मेरा है, और आगे चलकर पूरा विश्व भी मेरा है, पूर्ण प्राणी-जगत मेरा है। इसलिए मेरी सम्पत्ति केवल मेरे परिवार के लिए ही नहीं, समाज, देश, विश्व और सम्पूर्ण प्राणी जगत के काम आये, दान के विचार में यह उद्‌भावना है। मेरा पुत्र भूखा न सोए, जैसे यह चिन्ता हर आदमी की होती है, वैसे ही पड़ोसी का बच्चा

भूखा न सोए। समाज और सम्पूर्ण देश का कोई भी नागरिक भूखा न सोए, इस विचार का विकास ही दान है। द्वार पर आया कोई भिक्षु, कोई गरीब, कोई भिखारी खाली न जाए, यह है दान का आशय। सन्त कबीर कहते हैं—

यों कर, यों कर, यों न कर, यों किये यों हो जाय,
कह कबीर सुन बालका, जडां मूल से जाय।

तेरे दरवाजे पर कोई कुछ पाने आया है, तो 'यों कर,' उसे अपने हाथ से दान दें। यदि पास में कुछ देने को नहीं है तो 'यों कर'—यानि दोनों हाथ जोड़कर कह दे भाई साहब, आपकी बड़ी मेहरबानी जो मेरे घर पर आये, मेरा सामर्थ्य होने पर मैं दान अवश्य दूंगा। 'यों न कर' किन्तु दोनों हाथों को झड़काते हुए यों न कहें जाओ-जाओ, यहां देने को कुछ नहीं है। अगर ऐसा कह दिया फिर कुछ रहने वाला नहीं है। वह फिर जड़-मूल से ही साफ हो जाने वाला है। इसलिए संत कबीर कहते हैं, अगर घर में देने को कुछ है तो दान से पीछे मत हटो।

पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम,
दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम।

नाव में अगर पानी भर गया है, और घर यदि धन-संपत्ति से भर गया है, तो दोनों हाथों से उलीचकर उन्हें बाहर कर दें। अगर नहीं उलीचा, तो बढ़ा हुआ पानी नाव को खतरा उत्पन्न कर देगा और बढ़ी हुई धन-माया घर की सुख शान्ति को खतरा पैदा कर देगी।

यह है दान की महिमा। इसलिए हाथ की शोभा दान को माना गया है। महात्मा जी उस सियार को कह रहे हैं, इन हाथों ने कभी दान देना जाना ही नहीं, महा कंजूस था। कंजूस ही नहीं मक्खी-चूस था। कंजूस वह होता है जो खुद तो खाता

है, पर किसी को खिलाता नहीं है। मक्खी-चूस न खुद खाता है न औरों को खिलाता है। इतना ही नहीं, घी या दूध में कभी कोई मक्खी गिर जाती तो वह उस दूध घी को फेंकना तो दूर, मक्खी को निचोड़कर बाहर फेंकता है। जगत में ऐसे व्यक्ति का सबेरे-सबेरे मुंह देखना भी अपशकुन माना जाता है। भूखे पेट उसका नाम लेना भी अशुभ माना जाता है। एक नगर के बाजार में सबेरे-सबेरे घोड़े पर एक सवार आया। घोड़ा बहुत सुन्दर था। वहां खड़े लोगों ने घुड़सवार से पूछा, यह घोड़ा किसका है। घुड़सवार बोला—जिसका मैं नौकर हूं उसका यह घोड़ा है। तू किसका नौकर है, लोगों ने प्रश्न किया। उसने कहा जिसका यह घोड़ा, उसका मैं नौकर : लोग झल्लाए। उत्तर देने का यह क्या तरीका है। बाले तू इस तरह पहेलियां क्यों बुझाता है ? जिसका मैं नौकर उसका यह घोड़ा। और जिसका यह घोड़ा, उसका मैं नौकर। यह तो कोई उत्तर नहीं हुआ। तू साफ-साफ अपने मालिक का नाम क्यों नहीं बताता ?

घुड़सवार ने कहा, भाइयो, बात यह है मेरा मालिक महा-कंजूस है। इसलिए सबेरे-सबेरे भूखे पेट उसका नाम लेना भी अशुभ होता है। जो उसका नाम ले लेता है, उसे दिन-भर भोजन नसीब नहीं होता। मैं स्वयं इस अनुभव से कई बार गुजर चुका हूं। आज मैं अभी तक भूखा हूं, इसलिए भूखे पेट उसका नाम लेना नहीं चाहता। लोगों ने कहा, यह तेरा अंध-विश्वास है। किसी का नाम लेने मात्र से भोजन नसीब न हो, यह तो कोई बात न हुई। तेरा यह अन्ध-विश्वास हम तोड़ेंगे ही तोड़ेंगे। सामने हलवाई की दुकान थी। लोग वहां से आधा किलो गर्म-गर्म जलेबी ले आए। घुड़सवार से कहा मालिक का नाम ले और उसके बाद यह गर्म-गर्म जलेबियां खा। देखते हैं आज तेरा यह भ्रम टूटता है या नहीं टूटता।

अब तो बेचारा घुड़सवार भी मजबूर हो गया। वह घोड़े से नीचे उतरा, लगाम को अपने हाथ पर लपेटा, एक हाथ में जलेबियां ली, मुंह से मालिक का नाम बोला और दूसरे हाथ से जलेबी तोड़ने लगा। ठीक उसी समय पास से गुजरती हुई बारात में बन्दूक छोड़ी गई। उसका उधर जलेबी का तोड़ना इधर बन्दूक का छूटना, दोनों कार्य एक ही समय पर हुए। बन्दूक की आवाज सुनते ही घोड़ा बिदककर भाग खड़ा हुआ। लगाम हाथ पर लपेटी हुई थी, इसलिए घुड़सवार भी साथ-साथ घसीटा गया। जलेबियां हाथ से गिर गई। घुड़सवार गिरा-सो गिरा, मुख के दो दांत भी टूट गए। लोगों ने उसे उठाया। धूल-मिट्टी झाड़ते हुए वह बोला, अब तो समझ में आया आपको, भूखे पेट अगर कन्जूस का नाम भी ले लिया जाये तो उसका क्या हाल होता है।

महात्माजी सियार से कह रहे हैं, हाथ की शोभा कंगन नहीं दान है। इसके हाथ इसलिए अपवित्र हैं, अभक्षय हैं, क्योंकि उम्र-भर इन हाथों ने किसी को दान देना नहीं सीखा, केवल लेना ही लेना सीखा।

क्या कानों का हिस्सा तो खा लूं ? सियार ने पूछा। नहीं, नहीं, कानों का हिस्सा भी खाने योग्य नहीं है, महात्मा जी ने कहा। क्योंकि यह कान शास्त्र-वाणी सुनने के सदा विद्रोही रहे—**श्रुति पटौ सारस्वत-द्रोहिणौ।** इन कानों ने परनिन्दा सुनने में तो खूब रस लिया, शास्त्र-वाणी सुनने में कभी रस नहीं लिया। स्त्री-कथाएं, भोजन-कथाएं, राज-कथाएं तो यह कान खूब सुनते रहे, किन्तु भगवत कथा इनको अच्छी नहीं लगी। देखा है, लोग यों तो समय की शिकायत करते रहते हैं, क्या बतायें महाराज प्रवचन सुनने को समय ही नहीं मिलता। वे ही लोग जब आपस में गप्पें मारने बैठते हैं तो दो-दो घण्टे, तीन-तीन घण्टे के समय का भी ध्यान नहीं रहता। शास्त्र-

वाणी श्रवण के समय तो दस-बीस मिनटों में भी उंघने लग जाते हैं, किन्तु पर-निन्दा आलोचना में रात-रात भर भी नींद नहीं आती है। जो कान पर-निन्दा, हास-परिहास, शृंगार-विलास की कथाओं में ही रस लेते रहें, वे खाने योग्य कैसे हो सकते हैं, महात्माजी ने कहा।

स्वामी जी की ज्ञानपूर्ण बातों में अब सियार को भी आनंद आने लगा। मन में उत्सुकता बढ़ने लगी। उसने पूछा—क्या नेत्रों का हिस्सा खाने योग्य है ? महात्मा जी बोले, यह हिस्सा भी भोजन योग्य नहीं। इन आंखों ने कभी सन्त पुरुषों के दर्शन करना जाना हो नहीं -नेत्रे साधु-विलोकनेन रहिते। आंखें पवित्र होती हैं सन्त-दर्शन से। किन्तु यह व्यक्ति ऐसा था जो हर समय इधर-उधर ही ताका-झांकी करता था, औरों की बुराइयों को ही देखता, पर सन्त-दर्शन का नाम ही इसको नहीं सुहाता। बुरे संग में पूरे जीवन को इसने यों ही खो दिया। हमारी संस्कृति में सन्त-दर्शन की बड़ी महिमा बताई गई है। सन्त कबीर कहते हैं—

सन्त दर्शन को जाइए, तज माया अभिमान,
जितने डग आगे धरे, उतने यज्ञ समान।

माया और अभिमान को छोड़कर सन्त-दर्शन का जितना लाभ मिल सकता है, ले लेना चाहिए। सन्त-दर्शन के लिए जितने डग आप भरते हैं, उतने ही यज्ञों का फल आपको मिलता है। और भी कहा है—

सन्त दर्शन को जाइए, दिन में कई-कई बार,
आसोंजा का मेह ज्यों, बहुत करै उपकार।

दिन में कई-कई बार, जितनी बार मौका मिले, उतनी बार सन्त दर्शन को जाएं। जैसे आसोज की वर्षा फसल के लिए बड़ी लाभकारी होती है, उसी तरह सन्त दर्शन महान उपकार

करने वाला होता है।

सन्त-दर्शन का इतना महत्त्व इसलिए बताया गया है कि सन्त-संपर्क से हृदय में सत्प्रेरणा जागती है। आदमी का जैसा सम्पर्क होता है वैसी ही भीतर में प्रेरणा जागती है। जैसी प्रेरणा जगेगी, बुद्धि भी वैसी ही हो जाएगी। दुर्जन के पास बैठने से गलत प्रेरणा मिलना ही मिलना है। दीपक के पास बैठने से उजाला मिलना ही है। गन्धी की दुकान पर बैठने से सुगन्ध ही मिलेगी। वैसे ही सन्त के पास बैठने से जीवन की सुगन्ध मिलती है। यही महिमा है सन्त-दर्शन की।

स्वामी जी सियार से कह रहे हैं, इसकी आंखों ने कभी सन्त-दर्शन का लाभ लिया ही नहीं, इसलिए ये नेत्र भी खाने योग्य नहीं। गीदड़ ने पूछा—क्या पांवों को खाने में कोई बाधा है ?

महात्मा जी बोले—**पावौ न तीर्थं गतौ**—ये पांव भी पापमय हैं। इसलिए यह भी अभोज्य हैं। ये पांव पापमय इसलिए हैं, क्योंकि इन्होंने कभी तीर्थ-यात्रा की ही नहीं। पांवों का सही उपयोग यह है कि वह पवित्र स्थलों का भ्रमण करें, न कि आवारा फिरते रहें। पवित्र भूमियों से प्रमुख संकेत तीर्थों का होता है।

जैन, बौद्ध, सनातन सभी धर्मों में तीर्थ-यात्रा का बड़ा भारी महत्त्व बताया गया है। यहां तक कहा गया है कि इन तीर्थस्थलों पर जाने मात्र से आदमी के पाप धुल जाते हैं। इस कथन का आशय क्या है, इसे भी समझना जरूरी है। क्योंकि किसी भूमि पर जाने मात्र से पाप धुल जाएं, तब तो संसार में कोई पापी रहे ही नहीं। किन्तु ऐसा कहीं होता नहीं। फिर भी तीर्थ यात्रा की महिमा का इतना बखान हुआ है, इसके कई कारण हैं। तीर्थ-भूमि वह बनती है जहां किसी न

किसी ऋषि मुनि ने विशेष तप, साधना की हो। वे पर्वत-चोटियां, गुफाएं, नदियां, पेड़, उद्यान जहां बैठकर ऋषि-मुनियों ने वर्षों तक जप-तप किया, साधना की, आत्म-ज्ञान प्राप्त किया, निर्वाण को उपलब्ध हुए, वह स्थान जन-साधारण के लिए तीर्थ बन जाता है। वहां जाने से सहज ही उन पवित्र महान आत्माओं का स्मरण होता है। उनके द्वारा दी गई शिक्षाओं से बेहतर प्रेरणा जागती है। दूसरे में, तीर्थ भूमियां लगभग उन्हीं स्थानों पर होती हैं, जो प्राकृतिक सौंदर्य से भरे-पूरे होते हैं। नदी, नाले, पर्वत-घाटियां, वन-उपवन आदि स्थानों पर ही तीर्थ भूमियों का विकास होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर स्थानों पर जाने मात्र से मन को सहज शान्ति मिलती है। सन्त-पुरुषों का जप-तप, प्राकृतिक सौन्दर्य, घर-गृहस्थी की चिताओं से दूर, एकांत स्थल में जब व्यक्ति जाता है, उसे अद्‌भुत आनन्द का अनुभव होता है। बाहर की जल-धाराओं में स्नान करके तन हल्का हो जाता है, भीतर की जल-धाराओं में स्नान करके मन हल्का हो जाता है। इसी दृष्टि से तीर्थ महिमा का वणन शास्त्रो में वर्णन किया गया है।

किन्तु इसका अर्थ यह कभी नहीं है कि वहां जाने मात्र से पाप धुल जाते हैं। हर व्यक्ति को अपने कर्म फल तो भोगने ही होते हैं। कर्मों का फल भोगे बिना किसी का छुटकारा नहीं होता। कहते हैं एक बार देव सभा मे चर्चा चली कि देवताओं में सबसे बड़ा पापवान कौन ? किसी ने प्रस्ताव रखा कि सबसे बड़ी पापवान हमारे में गंगा है। क्योंकि पूरे देश का पाप इसी में आता है। हर कोई गंगा में नहाकर अपने पाप को धोता है। इसलिए गंगा से बढ़कर पापवान और कौन हो सकता है। सभी देवताओं ने उनके इस प्रस्ताव का समर्थन

किया। गंगा मां हैरान थी। अच्छा लांछन आया मेरे सिर। उसने थोड़ा-सा सोचा, फिर बोली, यह ठीक है सारे देश का पाप मेरे में आता है। पर वह पाप मैं अपने पास रखती कहां हूं? मेरा पानी निरन्तर बहता रहता है। मैं वह सारा पाप पानी के साथ समुन्दर में भेज देती हूं। इसलिए पापवान मैं नहीं, पापवान है यह सागर।

गंगा के इस तर्क से सब देवता सहमत हो गए। सबने कहा गंगा का कहना बिलकुल सही है। यह तो पानी अपने पास रखती ही नहीं। वह सारा पानी सागर में भेज देती है। इसलिए पापवान तो यह सागर ही हुआ।

सबका यह निर्णय सुनकर सागर घबराया। यह लांछन तो मेरे सिर पर आ गया। थोड़ा सोचते हुए समुद्र बोला—मैं भी गंगा से सहमत हूं। यह बिल्कुल सही है, गंगा का सारा पानी मेरे में आता है। इसलिए उसके साथ पाप भी आता है। लेकिन उस पाप को मैं अपने पास नहीं रखता हूं। मैं उसे भाप के सहारे आकाश में भेज देता हूं। इसीलिए ये बादल काले होते हैं। तो पापवान मैं नहीं, पापवान तो हैं इन्द्र, क्योंकि वर्षा के देवता तो इन्द्र ही होते हैं।

समुद्र के तर्क से सारे देव-गण सन्तुष्ट थे। इन्द्र भगवान घबराए। यह आफत तो मेरे गले आई। सभी देवताओं को सन्तुष्ट करते हुए वे बोले—समुद्र का तर्क भी बिल्कुल सही है। समुद्र में से सारा पाप भाप के सहारे मेरे पास आ जाता है। पर वह पाप मैं अपने पास नहीं रखता, वर्षा के बहाने वह सारा पाप मैं वापस धरती पर भेज देता हूं। जिसका जो पाप होता है वह वर्षा जल के साथ उसी के पास चला जाता है। इसलिए पापवान मैं भी नहीं।

कहानी का आशय इतना ही है कि केवल स्नान करने से पाप से छुटकारा नहीं हो पाता है। किन्तु तीर्थ-स्थल में भीतरी तथा बाहरी दोनों प्रकार के स्नानों का अवसर प्राप्त होता है, इसलिए उसकी इतनी महिमा गाई गई है।

इसी महिमा को आंतरिक अर्थ गरिमा प्रदान करने के लिए भगवान महावीर ने साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका को ही तीर्थ बताया। दरअसल तो यह आत्मा ही तीर्थ है। बाहर के तीर्थ तो उसी की प्रेरणा के लिए होते हैं।

महात्मा जी सियार से कह रहे हैं, इसके पांव भी खाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि ये कभी तीर्थ-यात्रा पर गए ही नहीं। सियार बोला—महात्मन्, क्या उदर का हिस्सा तो खा लूं।

महात्मा जी ने सिर हिलाते हुए कहा—इसका उदर भी खाने योग्य नहीं। क्योंकि अन्याय से अर्जित धन से ही इसने अपना उदर-भरण किया -**अन्यायार्जित वित्त पूर्ण मुदरं** वैसे तो पेट सबको ही पालना होता है। सारी दुनियां ही पेट को भरने में लगी है। आदमी अपनी मेहनत से पेट भरे, यह कोई गलत नहीं है। गलत यह है कि अपने पेट के लिए वह औरों के पेट पर लात मारे। औरों का हक छीनकर अपना पेट भरे। औरों की मजबूरी का लाभ उठाकर खुद माल उड़ाए।

आहार-विवेक देते हुए हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि वह भोजन किया जाए जो शरीर के लिए हितकर हो। हितकर भोजन भी परिमित मात्रा में तथा सच्ची कमाई का हो। ऐसा भोजन ही प्रभु का प्रसाद होता है। मीठे पकवान प्रसाद नहीं होते। प्रसाद होता है नेक कमाई द्वारा भक्ति भावना से पूर्ण अन्न। ऐसा अन्न स्वयं अपने में प्रसाद होता है। ऐसा प्रसाद किसी-किसी पुण्यात्मा को ही सुलभ हो पाता है। फिर भी इतना तो होना ही चाहिए कि दूसरे के मुख की रोटी छीनकर

अपना पेट न भरा जाए। इससे बड़ा और क्या पाप हो सकता है?

महात्माजी कह रहे हैं सियार से, इसका उदर भी अपवित्र है, अन्याय और बिना हक के पैसे का अन्न है इस उदर में, इसलिए यह भी तुम्हारे खाने योग्य नहीं है। सियार बोला—क्या मस्तक का हिस्सा तो खा लूं?

नहीं, नहीं, यह भी खाने योग्य नहीं, स्वामीजी बोले। यह मस्तक तो सदा गर्व से अकड़ा रहता था। **गर्वोद्धत मस्तकं**—गर्व से उद्धत रहता था इसका मस्तक। झुकना इसने जाना ही नहीं। बात-बात में अहंकार झलकता था—रूप-सौन्दर्य का अहंकार, जवानी का अहंकार, विद्या का अहंकार, धन का अहंकार, पद का अहंकार, न जाने कितने प्रकार के अहंकार से यह जकड़ा रहता था। नीतिकार कहते हैं—

यौवनं धन-सपत्ति-प्रभुत्व मविवेकिता
एकैक मप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम्

जवान उम्र हो, पास में धन-सम्पत्ति हो, फिर पद-अधिकार, प्रभुता मिल जाए और साथ में अविवेक और जुड़ जाए, इनमें एक-एक भी अनर्थ के लिए होता है। जहां चारों मिल जाएं फिर तो कहना ही क्या? बन्दर यों ही चंचल होता है, संयोग से मदिरा-पान कर ले, और ऊपर से मधुमक्खियां काट खाएं, उसकी चंचलता और उछल-कूद का फिर कोई अन्त नहीं होता है, वैसे ही यौवन, धन-संपत्ति, पद-अधिकार और विवेकशून्यता इन सबका योग जहां एक साथ हो जाए वहां आदमी देखते हुए भी नहीं देखता है, सुनते हुए भी नहीं सुनता है। उसका दिमाग सातवें आसमान में चढ़ा रहता है। अपने अहंकार के नशे में वह दूसरे को तुच्छ समझने लगता है।

अहंकार में विवेक के सारे दरवाजे बन्द हो जाते हैं। आदि

शंकराचार्य ने अभिमान को सुरा-पान कहा है—**अभिमानं सुरा-पानं।** जबकि इसका नशा सुरा-पान से भी ज्यादा गहरा होता है। मदिरा का नशा सबेरे तक उतर तो जाता है, अहंकार का नशा दिन-दिन गहरा होता है। वह तो तभी उतरता है, जब कोई जोरदार चोट लगती है। वैसे तो अहंकार का भार हल्का होना कठिन ही होता है।

अधिक उम्र तो भार अहं का ढोते-ढोते कट जाती है
थोड़ी फिर आलस्य नींद में सोते-सोते कट जाती है
और शेष रह जाती जो थोड़ी-सी सांसें इस जीवन की,
किया न कुछ भी इस चिंता में रोते-रोते कट जाती है।

हमारी अधिक उम्र तो अहंकार का भार ढोते-ढोते ही बीत जाती है। फिर धन या पद के अहंकार का पता तो लग जाता है। किन्तु अहंकार पंथ का भी होता है, प्रवचन का भी हो जाता है, साधना का भी हो जाता है, भक्ति का भी हो जाता है, तप का भी हो जाता है। बड़ा सूक्ष्म होता है अहंकार, इसको पकड़ पाना भी कठिन होता है। और जहां अहंकार होता है, वहां सारा जप, तप, ध्यान, प्रवचन निरर्थक हो जाते हैं। पंथ का अहंकार तो सबसे अधिक खतरनाक होता है। खून की नदियां पंथ का अहंकार ही बहाता है।

महात्मा जी ने सियार से कहा—इसका मस्तक का हिस्सा भी खाने लायक नहीं। क्योंकि इसमें अहंकार के सिवा कुछ था ही नहीं। अब सियार समझ पाया कि यह शरीर मेरे खाने योग्य क्यों नहीं है।

तात्पर्य इतना ही है, मानव का यह दुर्लभ शरीर और वे मूल्यवान इन्द्रियां, ये महत्वपूर्ण तभी हैं, जब इनका सदुपयोग किया जाए। मुख से भगवान का नाम लिया जाए, आंखों से सन्त-पुरुषों के दर्शन हों, कानों से शास्त्र-वाणी का श्रवण हो,

मस्तिष्क से उत्तम चिंतन हो, हाथों से निष्काम दान दिया जाए, पांवों से सत्संग का लाभ लिया जाए, तभी इन इन्द्रियों की सार्थकता है। वे इन्द्रियां परम की उपासना के लिए हैं न कि सांसारिक वासना के लिए। इसलिए ऋषि-मुनियों ने कहा—मुख की शोभा भगवान का नाम है, चिकनी-चुपड़ी बातें नहीं। नयनों की शोभा सन्त-दर्शन है, काजल नहीं। कानों की शोभा शास्त्र-श्रवण है, कुण्डल नहीं। हाथों की शोभा दान है, कंगन नहीं। पांवों की शोभा तीर्थ-यात्रा है, इधर-उधर भटकना नहीं। शरीर की शोभा शील है, श्रृंगार नहीं।

जो इन्द्रियों का उपयोग परमार्थ में करता है, उसी का जीवन सार्थक होता है। मानव का जीवन कर्म-योनि है। इसमें मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र होता है। यह पुनीत अवसर उसी परमार्थ की आराधना के लिए मिला है। जिसका जीवन केवल भोगों को भोगने और वासनाओं को पूरा करने में ही व्यतीत हो जाता है, शास्त्र वाणी के अनुसार वह शरीर निन्दनीय है, सियार का भोजन बनने योग्य भी नहीं है। वन्दनीय वह शरीर है, जिसने आंख, कान, हाथ, पांव आदि इन्द्रियों का सदुपयोग किया हो, परोपकार और परमार्थ में अपना समय लगाया हो। यही है मानव-जीवन की उपयोगिता और सार्थकता, जिसे पहचानने वाले बिरले ही होते हैं।

ज्ञान है तीसरा नेत्र

भगवान महावीर समवसरण में विराजमान हैं। परिषद् में देव-दानव, मानव, पशु-पक्षी सब कोई भगवान की अमृत-देशना सुनने को आतुर हैं। उस दिन भगवान ने साधना का एक गहरा रहस्य खोलते हुए कहा—

सुई जहा ससुत्ता- पडिया वि न णस्सइ
एंव जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ

जैसे धागे में पिरोई हुई सुई, हाथ से गिर जाने पर भी गुम नहीं होती, वैसे ही ज्ञान के धागे में पिरोया हुआ यह जीवात्मा संसार में गुम नहीं होता।

भगवान महावीर की यह एक क्रान्तिकारी उद्घोषणा है। धर्म-जगत में श्रद्धा पर सबसे अधिक बल दिया जाता रहा है। और श्रद्धा पर इतना अधिक बल दिया जाता रहा है कि श्रद्धा आज अपनी शुद्धता खोकर अन्ध-श्रद्धा में बदलती जा रही है। निस्संदेह श्रद्धा का अपना महत्त्व है। किन्तु श्रद्धा की शुद्धता को कायम रखना नितान्त जरूरी है। और श्रद्धा की शुद्धता तभी सम्भव है, जब उसके साथ ज्ञान जुड़े। श्रद्धा के बिना ज्ञान संशय बन जाता है। वह ज्ञान हमें किसी भी निणय तक नहीं पहुंचाता। ज्ञान के बिना श्रद्धा अन्धी हो जाती है। वहां सारा चिंतन ही जड़ता को प्राप्त हो जाता है। इसलिए श्रद्धा के साथ ज्ञान और ज्ञान के साथ श्रद्धा दोनों का होना जरूरी है।

ज्ञान की जगह ज्ञान, सेवा की जगह सेवा

लगभग दो हजार वर्ष पुराना शास्त्रीय प्रसंग मिलता है। गुरुदेव के पास शिष्य ने दीक्षा ली। शिष्य बड़ा विनीत था। तन-मन से गुरुदेव की सेवा करता। स्वभाव उसका बड़ा मधुर था। कमी एक ही बात की थी। ज्ञानाराधना में उसका मन बिल्कुल नहीं लगता। गुरुदेव अनेक बार विद्या-अध्ययन कि लिए प्रेरित भी करते, किन्तु वह हंसते हुए यह कहकर टाल देता कि आप जैसे महान् शास्त्रज्ञ और विद्वान-मनीषी की सेवा-सान्निध्य का अवसर मुझे मिला है। फिर विद्या-अध्ययन की माथापच्ची की मुझे क्या जरूरत है? मेरा कल्याण तो आपके चरणों की सेवा से ही हो जाएगा।

एक बार गुरुदेव ने उसे समझाया, देखो, सेवा का मूल्य अपना है और ज्ञान का मूल्य अपना। सेवा का स्थान ज्ञान नहीं ले सकता, और ज्ञान का स्थान सेवा नहीं ले सकती। जैसे आंख अपनी ही काम आती है, वैसे ही ज्ञान भी अपना ही काम आता है। परायी आंख आखिर परायी ही होती है। वैसे ही मैं चाहे कितना ही ज्ञानी हूं, और तुम चाहे मेरे प्रति कितने ही विनीत हो, श्रद्धा-समर्पित हो, किन्तु परायी आंख की तरह पराया ज्ञान भी समय पर साथ नहीं दे सकता। इसे तुम एक उदाहरण से समझो।

एक नगर में एक सेठ था। उसके चार पुत्र थे। सेठानी तथा चारों पुत्र अत्यन्त विनीत तथा आज्ञाकारी थे। यथा-समय चारों पुत्रों की शादियां हुई। पूर्व-जन्म के पुण्योदय से चारों बहुएं भी बहुत विनम्र, शालीन तथा सेवा परायण थीं। सब तरह से भरा-पूरा, सुखी परिवार था।

सेठ ने सत्तर वर्ष पार किए। शरीर पर बुढ़ापा उतर आया। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण पड़ने लगी। आंखों में मोतिया

बिन्द हो गया। नेत्र-ज्योति कमजोर हो गई। वैद्यराज को आंखें दिखाई गई। वैद्यराज ने मोतियाबिन्दु की शल्य-चिकित्सा का परामर्श दिया। सेठ ने शल्य-चिकित्सा के लिए इन्कार कर दिया। धीमे-धीमे आंखों से दीखना भी लगभग बन्द होने लगा। अब पुत्रों ने पिताजी पर शल्य-चिकित्सा के लिए जोर डाला। पिताजी बोले—इस बुढ़ापे में आंखों पर शस्त्र चलवाने की मेरी इच्छा नहीं है। सत्तर पार कर चुका हूं। मौत भी ज्यादा दूर नहीं है। फिर आंखों का जहां तक सवाल है, मेरे पास मेरी दो आंखें नहीं हैं, तो क्या हुआ। दो तुम्हारी मां की आंखें, आठ तुम चार भाइयों की आंखें, और आठ ही चार बहुओं की आंखें, इस तरह ये अठारह आंखें भी मेरी ही हैं। फिर मेरी दो आंखें न होने से फर्क क्या पड़ता है। मैं शल्य-चिकित्सा नहीं करवाऊंगा। पुत्रों ने बड़ा अनुनय-विनय किया। किन्तु सेठजी अपने निर्णय से टस-से-मस न हुए।

धीमे-धीमे आंखों की रोशनी सर्वथा विलुप्त हो गई। किन्तु बेटों और बहुओं की विनय-सेवा से सेठजी का कार्य यथावत् चलता रहा। सेठजी को जीवन में किसी प्रकार की कमी महसूस न हुई।

सब कुछ ठीक चल रहा था। तभी अचानक एक दुःखान्त घटना घटित हो गई। रात का समय था। घर में सब कोई गहरी नींद में सोए थे। सहसा घर में आग लग गई। परिवार के सदस्यों की आंखें खुलीं, तब तक आग की लपटों ने मकान को चारों ओर से घेर लिया था। जिसे भी, जिधर से भी रास्ता दीखा, अपने प्राणों को बचाने के लिए घर से बाहर भागा। सब कोई बाहर आ गए, किन्तु बूढ़े पिता आग से निकलकर न आ सके। आंखों के अभाव में, सही दिशा ज्ञान न हो पाने के कारण, अपने को बचाने की कोशिश में, वे आग की लपटों में ही जा गिरे। पुत्र चाहते हुए भी कुछ न कर सके।

इसीलिए शिष्य, मैं तुमसे कहता हूं, परायी आंख का सहयोग मिल सकता है। किन्तु समय पर, जीवन-रक्षा में आंखें अपनी ही काम आती हैं। ज्ञान भीतर की आंखें हैं। वह ज्ञान भी अपना ही काम आता है। दूसरों का सहयोग मिल सकता है। पर ऐसा नहीं कि समय पर दूसरों का ज्ञान अपना बन जाए। जैसे परायी आंख अपनी नहीं बन सकती, वैसे ही पराया ज्ञान अपना बनना सम्भव नहीं। अतः तू सेवा के साथ अध्ययन भी कर। श्रद्धा के साथ ज्ञान की भी आराधना कर। कोरी श्रद्धा ज्ञान की पूर्ति नहीं कर सकेगी।

ज्ञान का अर्थ है धागा-पिरोई सुई

भगवान महावीर इस श्लोक में ज्ञान पर इसीलिए बल दे रहे हैं कि केवल श्रद्धा से काम नहीं चलने वाला है। इतना ही नहीं, धागा पिरोई सुई का रूपक देते हुए महावीर कहते हैं, जैसे बिना धागे की सुई का, धरती पर गिरने के बाद वापस मिलना मुश्किल है, वैसे ही, बिना ज्ञान के धागे से पिरोए हुए इस जीवात्मा का संसार में गुम हो जाना अत्यन्त सरल है। धागा-पिरोई सुई और बिना धागा-पिरोई सुई, दोनों में फर्क इतना ही है, एक का गिर जाने पर तुरन्त पता चल जाता है और दूसरी का गिर जाने पर पता लगना बहुत कठिन हो जाता है। यही स्थिति ज्ञान सहित जीवात्मा तथा ज्ञान-रहित जीवात्मा की है। जो जीवात्मा ज्ञान-सहित है, वह मोह-वश अगर एक बार संसार की माया-ममता में फंस भी जाए, फिर भी वह उस माया-ममता में गुम नहीं हो जाएगा। मोह के कारण, हो सकता है, वह इन्द्रिय-विषयों में भटक ता जाए, पर वह गुम नहीं हो जाएगा। भटकने का अर्थ है सही रास्ता छोड़कर गलत रास्ता ले लेना। किन्तु गुम होने का अर्थ है सही रास्ते का भान ही भूल जाना। भटकने पर भी वहां यह भान रहता है कि मेरा सही रास्ता छूट गया है। किन्तु गुम

हो जाने पर वह भान भी नहीं रह जाता है। तो ज्ञान-सहित आत्मा संसार में भटक तो सकती है, क्योंकि जब तक ज्ञान के साथ चरित्र नहीं है, आचरण नहीं है, तब तक भटकना असंभव नहीं है, किन्तु ज्ञान की उपस्थिति में वह गुम नहीं होगी। अपना भान ही वह भूल जाएगी। धागा पिरोई हुई सुई की तरह वह खोज करने पर वापस मिल ही जाएगी। ज्ञान-आराधना की यही महत्ता है।

आज ज्ञान के साथ भान क्यों नहीं ?

यहां प्रश्न उठता है कि आज शिक्षा का विस्तार खूब हो रहा है। शिक्षा के विस्तार के साथ ज्ञान का विस्तार होना स्वाभाविक है। किन्तु इस ज्ञान-विस्तार के साथ यह भी सही है कि आदमी अपना भान भी भूलता जा रहा है, अपनी पहचान भी खोता जा रहा है। इसका कारण क्या है, इसका उत्तर यही है कि आज की शिक्षा का ज्यादा ध्यान बौद्धिक विकास पर है। सारे-के-सारे विज्ञान के केन्द्र में बुद्धि है। हृदय-पक्ष की दृष्टि से आज का शिक्षा-विज्ञान सर्वथा उदासीन है। बुद्धि का विषय है चिन्तन और हृदय का विषय है भावनाएं। भावना-शून्य चिन्तन में स्वार्थ प्रधान हो जाता है। ये भावनाएं ही हैं जो आदमी को आदमी से जोड़ती हैं। भावनाएं टूटने के साथ ही आदमी टूट जाता है। औरों से तो टूटता ही है, अपने से भी टूट जाता है फिर जीवन में अंधकार ही अंधकार व्याप जाता है।

> बशर में जैसे-जैसे बन्दगी कम होती जाती है
> चिरागे-जिन्दगी में रोशनी कम होती जाती है
> यह इन्सान जबसे चांद की धरती पे पहुंचा है,
> न जाने क्यों जमीं पे चांदनी कम होती जाती है,

विज्ञान चांद की धरती पर उतर गया है। चांद और

धरती की दूरी आज सिमट रही है। किन्तु आदमी और आदमी की दूरी आज बढ़ती जा रही है। संवेदना-शून्य विज्ञान के विकास ने आज आदमी को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। परिणामतः आदमी और आदमी के बीच प्यार की चांदनी कम होती जा रही है। बुद्धि दीवारें खड़ी करती हैं, भावनाएं दीवारें तोड़ती हैं। बुद्धि-प्रधान एवं भावना-शून्य परिवार तथा समाज-व्यवस्था में से जीवन की रोशनी प्रकट नहीं हो सकती। उसी का परिणाम है—

आदमी की शक्ल से अब डर रहा है आदमी
आदमी को लूटकर घर भर रहा है आदमी,
आदमी ही मारता है मर रहा है आदमी
समझ कुछ आता नहीं क्या कर रहा है आदमी,

आदमी की यह स्थिति केवल इसलिए बनी है कि आज की शिक्षा में हृदय सिकुड़ता जा रहा है, दिमाग बड़ा होता जा रहा है। हम कल्पना तो करें एक ऐसे शरीर की, जिसमें सिर का भाग बहुत बड़ा हो तथा शेष शरीर बिल्कुल अविकसित रह गया हो। आज की शिक्षा का यही स्वरूप बनता जा रहा है और आदमी इसीलिए अपना भान, अपनी पहचान खोता जा रहा है।

विद्या विनय सिखाती है, अहंकार नहीं

भारतीय संस्कृति में विद्या की निष्पत्ति विनय है— **विद्या ददाति विनयम्** आज की शिक्षा-प्रणाली में विद्या की निष्पति अहकार में देखी जाती है। होना यह चाहिए कि विद्या-विकास के साथ व्यक्ति का अहंकार टूटता चला जाए। अहंकार सदा अज्ञान में होता है। ज्ञान में अहंकार का कोई स्थान हो ही नहीं सकता। अगर विद्वत्ता के साथ अहंकार बढ़ रहा हो, तो समझ लेना चाहिए, वह सही ज्ञान है ही नहीं। वह विद्वान

केवल अधरों का बोझ ढोने वाला है। वह ज्ञान नहीं, अज्ञान ही है।

वस्तुतः ज्ञान होता ही वही है जो अपने अज्ञान का बोध कराए। और जो अपने अज्ञान को जान लेता है, उसे अहंकार हो नहीं सकता। इसलिए यह भी कहा गया है, ज्ञानी वह नहीं, जो अपने ज्ञान को जानता है। किन्तु ज्ञानी वह है जो अपने अज्ञान को जानता है।

सुकरात के जीवन की घटना है। यूनान की राज्य-देवी का वार्षिकोत्सव बड़े उल्लास से मनाया जा रहा था। पूजा-पाठ सम्पन्न हो जाने पर विशिष्ट लोगों ने देवी के समक्ष प्रश्न रखा—आज यूनान में सबसे अधिक बुद्धिमान् विद्वान् व्यक्ति हैं सुकरात। लोगों ने सुकरात का नाम सुना, तो एक बड़ी भीड़ जय-जयकार के नारे लगाते हुए सुकरात के घर पर पहुंच गई। सुकरात ने इसका कारण पूछा। लोगों ने राज्य-देवी की घोषणा सुनाते हुए कहा—हम आपका सम्मान करने आए हैं। सुकरात ने कहा—देवी ने जिस विद्वान्-बुद्धिमान का नाम सुकरात बताया है, वह कोई दूसरा होगा। कम-से-कम मैं तो हर्गिज नहीं हूं। आप किसी और सुकरात की तलाश करें। सुकरात के विनम्र किन्तु दृढ़ उत्तर ने सभी को निरुत्तर कर दिया।

सब लोग फिर देवी के समक्ष उपस्थित हुए। सुकरात द्वारा दिए गए उत्तर को देवी के समक्ष प्रस्तुत करते हुए असली सुकरात के बारे में पूछा। देवी ने फिर घोषणा की—असली सुकरात वही है, जिससे आप मिलकर आए हैं। वही सर्वाधिक विद्वान् तथा बुद्धिमान् है।

लोग फिर सुकरात के घर पहुंचे। देवी की घोषणा को पुनः सुकरात को बताया गया। सुकरात ने दृढ़ता से कहा—

देवी की घोषणा का मैं निरादर नहीं करना चाहता। किन्तु मैं ज्ञानी हूं नहीं। मेरा ज्ञान इतना-सा है कि मैं अपने अज्ञान को जानता हूं। आप सब फिर ध्यान से सुन लें, मैं इतना ही जानता हूं कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूं। इतना कह कर सुकरात घर के भीतर को चले गए।

सब कोई आश्चर्य-चकित थे। विचित्र आदमी है यह, जिसके विद्वान् बुद्धिमान होने की घोषणा राज्य-देवी कर रही है, सारा राज्य जिसे सर्वश्रेष्ठ विद्वान्-बुद्धिमान् का गौरवपूर्ण सम्मान देने को आतुर है, वह कह रहा है, मैं तो मात्र इतना-सा जानता हूं कि मैं कुछ भी नहीं जानता। जबकि साधारण-तया जो सचमुच में कुछ नहीं जानता, वह भी अपने को महान् बुद्धिमान् तथा विद्वान् होने का गर्व रखता है। और जिसमें थोड़ा बहुत ज्ञान होता है वह तो बड़े-से-बड़ा पद तथा सम्मान का हकदार अपने को मानने लगता है। लोग दौड़े-दौड़े फिर देवी के दरबार में आए और सारी घटना कह सुनाई।

इस बार देवी ने एक गहरे रहस्य पर से परदा उठाते हुए कहा—अपने ज्ञान को ही जानने वाला सच्चा ज्ञानी नहीं होता। सच्चा ज्ञानी वह होता है जो अपने अज्ञान को जानता है। सुकरात कह रहा है कि मैं तो मात्र इतना जानता हूं कि मैं कुछ नहीं जानता। इसका अर्थ यह हुआ कि सुकरात अपने अज्ञान को जानता है। और इसीलिए सुकरात सबसे महान् है, सब में महान् है, ज्ञानियों का सिरमौर है।

ज्ञानी वह है जो अपने अज्ञान को जानता है। वस्तु-स्थिति यह है, ज्ञान का विस्तार तब तक ही संभव है, जब तक हमें अपने अज्ञान का भान है। अज्ञान का भान मिटा कि ज्ञान का विस्तार ठहर जाएगा। फिर हमारे ज्ञान की सीमा आ जाएगी। ध्यान देंगे, वह सीमा हमारी होगी, ज्ञान की नहीं,। ज्ञान तो असीम है, उसकी क्या सीमा हो। वह तो अनन्त है, उसका

क्या अन्त हो। सीमा हमारी है, अंत हमारा है। वह सीमा असीम में तभी बदल सकती है, जब ज्ञान पाने की ललक मन में बनी रहे। ज्ञान पाने की ललक तब तक ही रह सकती है, जब भीतर में अपने अज्ञान का भान हो। और जब अज्ञान का भान होगा, तब ही अहंकार से मुक्त हुआ जा सकेगा। देखा यह गया है, जो जितना बड़ा ज्ञानी होता है, वह उतना ही विनम्र होता है। अल्पज्ञ ही अहंकार का भार ज्यादा ढाते हैं। कहा भी है—अधजल गगरी छलकत जाय। जल से आधी भरी गगरी ज्यादा छलकती रहती है। जो जितना ज्यादा छलकता है, वह उतना ही अधूरा होता है। जल से परिपूर्ण घट बिल्कुल नहीं छलकता। यही स्थिति ज्ञानी की होती है।

एक रज-कण जितना ज्ञान

अलबर्ट आइन्स्टीन वर्तमान में विज्ञान-जगत् के भीष्म-पितामह माने जाते हैं। विज्ञान की जिस ऊंचाई तक वे पहुंचे, वहां तक पहुंचने वाले विरले ही हैं। एक बार उनसे किसी ने पूछा श्रीमन्, अब आपसे तो इस जगत का कोई भी रहस्य अनजाना न रहा होगा? आइन्स्टाइन उस समय समुद्र-किनारे खड़े थे। उन्होंने सागर-तट से एक रज-कण हाथ में लेकर कहा—समुद्र-किनारे पर फैले असंख्य रज कणों के विस्तार के सम्मुख जैसे यह एक रज-कण अकिंचन है, ठीक वैसे ही अज्ञान के अनन्त विस्तार के सामने मेरा ज्ञान इस एक रज कण की तरह ही तुच्छ तथा अकिंचन है। एक रज-कण जितना मैंने जाना है, असंख्य रज-कणों जितना अभी अजाना ही है। विज्ञान-जगत के भीष्म-पितामह माने जाने वाले अपने ज्ञान को एक रज-कण जितना मान रहे हैं, जबकि विज्ञान का साधारण डिग्रीधारी स्नातक का ज्ञान-अहंकार कभी-कभी पर्वत की चोटी-सा देखा जाता है।

ज्ञान विनय देता है **विद्या ददाति विनयम्**। विनय अहंकार

तोड़ता है। अहंकार ही हमें हमारे विराट् अस्तित्व से वंचित रखता है। अहंकार टूटा कि हम विराट से जुड़ जाते हैं। इसलिए ज्ञान का अर्थ वर्ण-माला के अक्षरों से परिचय होना ही नहीं है, किन्तु उस विराट् चेतना से परिचय होना है, जो अक्षर है, ध्रुव है, नित्य है, सनातन है। **सा विद्या या विमुक्तये**-विद्या वही है जो बन्धनों से मुक्त करे। सबसे बड़ा बन्धन अज्ञान का है। अज्ञान मोह को जन्म देता है। मोह राग-द्वेष को जन्म देता है। राग द्वेष से हम टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित हो जाते हैं। यह मेरा, वह तेरा। इस तेरे-मेरे के भेद से क्रोध-मान-माया-लोभ पैदा होते हैं। अहं का विस्तार होता चला जाता है। अहं में विराट छूट जाता है, अहं फलता-फूलता जाता है। जो अहं को तोड़े, विराट् से जोड़े, महावीर-वाणी में वह है ज्ञान, शेष है अज्ञान, उपनिषद् की भाषा में वह है विद्या, शेष है अविद्या। उस ज्ञान में वर्ण-माला का अपना उपयोग है, पर वह अनिवार्य नहीं है। प्रत्युत भीतरी आंख खुल जाने पर बाहर की साक्षरता अकिंचित्कर हो जाती है। उसका कोई बहुत मूल्य नहीं रह जाता। बाहरी साक्षरता की दृष्टि से गुरुनानक देव, संत कबीर आदि अनेक संत-पुरुष अनपढ़ हैं, निरक्षर हैं। किन्तु उन्होंने अपने अन्तर्ज्ञान के बल पर जो कुछ लिख दिया, बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी उसे समझना मुश्किल है।

भारतीय मनीषा ने प्रमुखता उस ज्ञान को दी, जो हमें अपने विराट् अस्तित्व से जोड़े, आत्मा और परमात्मा से जोड़े। उस ज्ञान को सबके लिए अनिवार्य माना। क्योंकि उस ज्ञान को उपलब्ध होने पर यह जीवात्मा संसार मोह में लुब्ध नहीं होगा। धागे में पिरोई हुई सुई की तरह वह संसार में गुम नहीं होगा। भगवान महावीर ने ज्ञान पर इसलिए इतना जोर दिया है।

ज्ञान के समान कुछ भी पवित्र नहीं

श्रीमद् भगवद्-गीता ने यहां तक कह दिया—**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते** —ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है। ज्ञान वह गंगा-धारा है, जिसमें डुबकी लेने वाला पवित्र हो जाता है। जल-धारा से भी ज्यादा पवित्र है ज्ञान की धारा। जल दूसरे को निर्मल करता है, किन्तु उसका मल अपने में ले लेता है। वह स्वयं समल हो जाता है। पर ज्ञान-धारा स्वयं पवित्र रहते हुए दूसरे को पवित्र बना देती है। दूसरे की मलिनता को दूर करते हुए स्वयं की तरह उसे भी अमल-धवल, निर्मल बना देती है। अग्नि की तरह है ज्ञान अराधना, जो चित्-स्वर्ण पर आए मैल को भस्मसात् करके हमारे ज्योतिर्मय स्वरूप को उद्भावित करती है। गीता के शब्दों में—

यथैधांसि समिद्धोऽग्नि, भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन,
ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा

अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को, काष्ट समूह को जला डालती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है। ज्ञान ही वह तीसरा नेत्र है, जिससे भगवान शिव ने कामदेव को भस्म किया था। ज्ञान के बिना श्रद्धा अंधी है और आचार विवेक-हीन। श्रद्धा की आंख है ज्ञान और आचार की गति का सही मार्ग-दर्शन है ज्ञान। ज्ञान भटके हुए पांवों को सही पथ पर ले आता है। इसीलिए भगवान महावीर ने शिष्यों से कहा—केवल श्रद्धा अथवा केवल आचार से काम नहीं चलेगा। इनके साथ ज्ञान अनिवार्य है। ज्ञान अगर जागृत है तो इस जीवात्मा को धागे में पिरोई सुई की तरह संसार में गुम नहीं होने देगा, पांवों की गति को भटकने नहीं देगा। हम ज्ञान की आराधना में प्रयत्नशील हों, इसी में सबका कल्याण है।

कविताओं से जुड़ी घटनाएं
घटनाओं से जुड़ी कविताएं

चातुर्मास के अनन्तर राजगीर-पर्वत-माला की उपत्यकाओं में हमने एक बार दस दिनों के मौन-ध्यान का निर्णय लिया। नगरीय कोलाहल से दूर, प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर उस वातावरण में मौन-ध्यान का वह एक अद्‌भुत अनुभव था। बाहर-भीतर सवत्र बह रही थी शांति और आनन्द की स्वच्छ-उज्जवल धारा। किन्तु बार-बार ऐसा भी अनुभव हो रहा था कि वह आनन्द-धारा जैसे किसी चट्टान से टकराकर वापस लौट आती है, इसी कारण उस अनन्त के साथ एकाकारता का क्षण आगे-से-आगे खिचता चला जाता है।

भीतर में एक ऊहापोह ने जन्म लिया। कौन-सी है वह चट्टान, जो इस आनन्द-धारा को अपने प्रिय विराट् के दर्शन से रोके हुए है? तभी उत्तर मिला कि चेतना पर आया यह मोह का घूंघट ही वह चट्टान है जो उस परम-मिलन से रोके हुए है। वह अनुभव कविता में यों उतरा—

पनघट तक आकर जो वापस लौट गया है
मन-घट तक आकर जो वापस लौट गया है
नहीं मिलेंगे उसको अपने प्रिय के दर्शन,
घूंघट तक आकर जो वापस लौट गया है,

उस चट्टान को खोज तो लिया, जो आत्म-दर्शन में बाधा थी। पर अब सवाल यह था वह घूंघट हटे तो कैसे हटे? संत कबीर ने भी इसी ओर इशारा करते हुए कहा था—घूंघट का पट खोल, तोहे पिया मिलेंगे। किन्तु वह पट खुलना आसान तो नहीं। मोह के इस घूंघट ने अब तक कहां-कहां नहीं भटकाया है इस जीवात्मा को। इसी चिंतन-धारा में से फिर कविता फूट पड़ी—

बहुत-बहुत भटकाया हमको इस पनघट ने
बहुत-बहुत भटकाया हमको इस मन-घट ने
जनम-जनम से भटक रहे पर चैन न पाया,
बहुत-बहुत भटकाया हमको इस घूंघट ने।

× × ×

कलकत्ता-प्रवास में एक कविता-गोष्ठी का प्रसंग। कुछ कवि-बन्धुओं के साथ-साथ कुछ अन्य श्रोता-गण भी उपस्थित थे। प्रसंग-वश कविता क्रम में मैंने मुक्तक पढ़ा—पनघट तक आकर····घूंघट तक आकर जो वापस लौट गया है।

सभी श्रोताओं में से एक आवाज चीखी। मुनि होकर ऐसी कविताएं लिखते हैं? पंक्तियों को दुहराते हुए वह बोला—'नहीं मिलेंगे उसको अपने प्रिय के दर्शन, घूंघट तक आकर जो वापस लौट गया है'—प्रिय के दर्शन····,घूंघट····क्या अर्थ है इस कविता का?

गोष्ठी में सन्नाटा-सा छा गया। मैं उसके तमतमाए चेहरे को पढ़ने की कोशिश कर रहा था। दूसरे ही क्षण मैंने मुस्कराते हुए उससे पूछा—आपकी समझ में इसका क्या अर्थ हो सकता है?

बिल्कुल साफ है इसका अर्थ—उसने जैसे निर्णय देते हुए

कहा, इसमें प्रयुक्त शब्द स्वयं बोल रहे हैं कि यह कविता सांसारिक वासना की भूमिका पर लिखी गई है। वह फिर बुदबुदाया—प्रिय के दर्शन…घूंघट…। और फिर वह चुप हो गया।

एक तीखा मौन पूरे वातावरण में फैल गया। कविता-पाठ का मधुर प्रसंग एक अवांछनीय/अप्रिय आवेश में बदल गया था। इस सारे घटना-क्रम से अविचलित मैंने सहजता से कहा—आप जिस भूमिका पर खड़े हैं, वहां इसका अर्थ इसके अलावा और हो भी क्या सकता है?

एक जोरदार ठहाका पूरे हाल में गूंज गया। नहीं पता, वे महाशय मेरे उत्तर को समझ पाए या नहीं। वासना की धरती पर खड़े चित्त के लिए साधना की भूमिका को समझ पाना सम्भव भी कैसे हो सकता है?

२

उन दिनों राजस्थान के एक कस्बे में हमारा प्रवास चल रहा था। एक दिन उस क्षेत्र के एक राजनेता अपने कुछ भक्तों के साथ मेरे पास आए। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने कहा—मुनिजी, हमने सुना है आप कवि भी हैं। कविताएं सुनने के लोभ में ही हम आपके पास आए हैं। आशा है आप हमें निराश नहीं करेंगे। साथ में आए भक्त भी उनके इस आग्रह के साथ जुड़ गए।

उनके इस प्रस्ताव ने मुझे असमंजस में डाल दिया। नेताजी के डीलडौल को देखकर समझ में नहीं आ रहा था कि कविताएं भीतर कहां से प्रवेश पाएंगी। मन में यह भी आया कि इस देश का दुर्भाग्य है, जहां किसी कम्पनी का क्लर्क बनने के लिए तो कोई-न-कोई योग्यता (Qualification) चाहिए, किंतु

राजनेता बनने के लिए कोई भी योग्यता (Qualification) की जरूरत नहीं है। और उससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह है कि उनमें सारी योग्यताएं आ गई हैं। यही कारण है कि बड़ी-२ विज्ञान-गोष्ठियों का उद्घाटन, एक आठवी कक्षा में फेल मंत्री-महोदय को करते देखा गया है। एक चरित्रहीन राजनेता को बडे-बड़े धर्म-सम्मेलनों का शुभारम्भ करते देखा गया है।

उनका आग्रह मेरे लिए धर्म-संकट था। स्थिति-वश वह आग्रह पूरा होना जरूरी था तो मेरे लिए कविता के सम्मान की रक्षा करना भी जरूरी था। मैंने कहा—जिन हालात में से आज देश गुजर रहा है, उस पर एक व्यंग्य आप सबके सामने प्रस्तुत है—

न तुम्हारे पास रिवाल्वर,
न तलवार,
फिर भी तुम इतने खूंखवार ?
जी हां, बनिया हूं,
नमस्कार,

इतना सुनते ही नेताजी खुशी से उछल पड़े। बोले—ठीक लिखा आपने, ये बनिए ऐसे ही होते हैं। साथ में आए भक्तों के चेहरे देखने लायक थे। मैंने कहा—आगे भी सुन लीजिए—

न तुम कोई बनिया,
न डाकू-सरदार,
फिर भी तुम इतने खूंखवार ?
जी हां,
नेता हूं, खबरदार।

इस बार साथ में आए भक्तों ने तालियां बजाते हुए कहा—बिल्कुल यह सही है, आज के नेताओं की तस्वीर खींची है

आपने। और नेताजी का चेहरा देखने लायक था। मैंने फिर धीमे-से कहा—आगे और सुन लीजिए—

न तुम कोई नेता,
न तुम्हारे दल की सरकार,
फिर भी तुम इतने खूंखार ?
जी हां,
चमचा हूं,
नेता का बरखुरदार।

अब सब कोई चुप थे। सबके ही चेहरे थे देखने लायक। मुझे संतोष था कि मैंने उनका आग्रह भी पूरा किया और कविता के सम्मान की रक्षा भी की।

३

एक महान आचार्य के शताब्दी महोत्सव की पुण्य आयोजना। गांव-गांव, शहर-शहर में भव्य शोभा-यात्राएं। धरती-आकाश को गुंजाने वाले जोशीले नारे। दैनिक-साप्ताहिक अखबारों में आकर्षक चित्रों के साथ बड़े-बड़े आलेख।

चमकदार साज-सज्जा में साहित्य-प्रकाशन। तेज भड़कीली रोशनियों से जगमगाते प्रवचन-मण्डपों में विशाल सम्मेलन। नेताओं, सेठ-साहूकारों और सन्तों-गुरुओं, की छत्र-छाया में आम लोगों का जमघट। इस तामझामपूर्ण उत्सव की शिखर-परिणति (climax) देश की राजधानी दिल्ली में एक विशालकाय रैली के रूप में होनी थी, जिसका उद्देश्य था देश की प्रधानमन्त्री के समक्ष अपने समुदाय का शक्ति-प्रदर्शन। (लाख प्रयत्नों के बावजूद यद्यपि प्रधानमन्त्री उस रैली में शामिल नहीं हुई)

एक अजीब-सी तृष्णा और वितृष्णा को सूंघा जा सकता

था पूरे वातावरण में। नाम था महान आचार्य की पुण्य शताब्दी पर श्रद्धांजलि-समर्पण का, किन्तु उसकी आड़ में शीर्षस्थ व्यक्ति यश और नाम लूटने में लगे थे, और समाज के धन पर नेतागीरी करने वाले पैसा लूटने में। मेरे कवि-मन से यह सब नहीं देखा गया। उसमें से जिस मुक्तक ने जन्म लिया, वह इस प्रकार है—

एक दर्द भीतर-ही-भीतर कसक-कसक उठ आता है,
नाम रोशनी का लेकर अन्धेरा लाभ उठाता है,
महापुरुष के पुण्य नाम की चमक-दमक में यह मानव,
कोई नाम कमाता है और कोई दाम कमाता है,

मुक्तक प्रकाश में क्या आया, जैसे पूरे समाज में तूफान ही आ गया। शीर्षस्थ नेतृत्व का जैसे आसन ही डोल उठा। स्पष्टीकरण के लिए समाज के विशिष्ट प्रतिनिधि को मेरे पास भेजा गया। उन्होंने स्पष्टीकरण मांगते हुए पूछा—इस मुक्तक का अर्थ क्या है?

आपको कहां समझ में नहीं आया, मैंने कहा।

किन्हें लक्ष्य में रखकर यह लिखा गया है, उनका अगला प्रश्न था।

जो भी ऐसा करते हैं, उनके लिए है, मेरा उत्तर था।

इसमें तो साफ इशारा उन-उनकी ओर है, यह कहते हुए उन्होंने दो-तीन नाम गिनाए।

मैंने कहा—इस मुक्तक में ऐसा कोई नाम नहीं है। अब मैं यह जानना चाहता हूं आपका इशारा इन नामों की ओर ही क्यों गया?

वे एक बार तो सकपकाए, फिर मुस्करा दिए।

मैं भी मुस्कराया। सारे वातावरण में मुस्कान फैल गई।

४

हैदराबाद की सड़कों से पद-यात्रियों का हमारा काफिला गुजर रहा था। तभी हमारे पास से एक रिक्शा गुजरा। रिक्शे में परदे के भीतर सवारियां थीं।

रिक्शा आगे बढ़ते हुए दो मनचले युवकों के पास से गुजरा। युवकों ने न आव देखा न ताव, हाथ से उस परदे को ऊपर उठा दिया। भीतर दो वृद्ध मुस्लिम औरतें बैठीं थी। वे युवकों की ओर देखते हुए खिलखिलाकर हंस पड़ी। युवक एक बार तो झेंप गए, फिर वे भी अपने को हंसने से नहीं रोक सके। यह घटना कागज पर इन शब्दों में उतरी—

आकर्षण
कभी रूप में नहीं,
परदे में होता है,
और परदा
रूप के लिए
परदे के लिए होता है,
छुपा नहीं है राज जिससे
परदे के भीतर का,
क्या उससे हमारा कभी कोई परदा होता है?

५

जिला-न्यायाधीश थे वे। चाहते थे कि उच्च न्यायालय में वे न्यायाधीश बन सकें। ऐसा सुना गया कि उनका पिछला रिकार्ड आपत्तिजनक होने के कारण उच्च न्यायालय में उनकी नियुक्ति नहीं हो पा रही थी। सारे उपाय असफल होने पर

वे अपने धर्माचार्य के पास पहुंचे। गुरुदेव का आशीर्वाद मिल जाए तो बेड़ा पार हो जाए। गुरुदेव भी अपने शिष्य को उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में देखना चाहते थे। पर हो तो कैसे ? पिछला रिकार्ड सबसे बड़ी बाधा थी।

आखिर रास्ता मिल ही गया। एक महान् धर्माचार्य के रूप में गुरु देव की ख्याति थी। संत की ख्याति को भुनाने की योजना बनी। राष्ट्रीय चरित्र और न्यायपालिका जैसे विषय पर विचार-गोष्ठी आयोजित की गई। सान्निध्य गुरुदेव का रखा गया। मुख्य अतिथि बनाये गए उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और गोष्ठी-स्थल रखा गया जिला-न्यायाधीश की कोठी। नगर के कुछ और जज तथा वकील-गण भी आमंत्रित थे। संयोजक थे खुद जिला-न्यायाधीश महोदय।

समय पर विचार-गोष्ठी आरम्भ हुई। जिला-जज महोदय ने अपने संयोजकीय भाषण में उच्च न्यायालय के प्रमुख न्यायाधीश को प्रसन्न करने की भरपूर कोशिश की। अपने भाषण में उन्होंने, अपने गुरुदेव और प्रमुख न्यायाधीश की ओर इशारा करते हुए यहाँ तक कह दिया, आज देश में जब सर्वत्र अंधेरा-ही-अंधेरा है, वहाँ केवल ये ही वे स्थान हैं, जहाँ आदमी को उजाला मिलता है, यहाँ से कोई भी आदमी निराश नहीं लौटता है, आदि-आदि।

यह बातें मुझे तीर की तरह चुभ गई। मन में आया, खुशामद की भी कोई हद होती होगी। संयोग स, उस गोष्ठी में मुझे बोलने का अवसर मिल गया। मैंने कहा—सुना है किसी प्रसिद्ध कथाकार के पास एक नवोदित कथा-लेखक आया। वह बोला—आज के प्रकाशक, लेखक और विक्रेताओं ने मिलकर एक ऐसी साजिश कर रखी है, जिससे किसी भी नवोदित प्रतिभा को आगे आने का अवसर ही नहीं मिल पाता है। इस स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए ? प्रसिद्ध

कथाकार ने कहा—तुम भी इस साजिश में शामिल हो जाओ।

मैंने कहा—उस नवोदित कथाकार ने क्या किया, इसकी मुझे जानकारी नहीं है। किन्तु इतना मैं जरूर जानता हूं कि आज जो देश में चारों ओर अन्धेरा बढ़ रहा है, अन्धेरे की इस साजिश में कौन कितना बचा हुआ है, कहना मुश्किल है। अभी संयोजक महोदय के भाषण की पीड़ा में से मेरे मन-मस्तिष्क में एक कविता उभर आई है, उसमें शायद इस प्रश्न का उत्तर मिल जाए।

इस देश के मन्दिर में
कहां दरार नहीं है ?
सही सलामत एक भी
दरो-दीवार नहीं है
मत पूछो,
किसने लूटा है इस गुलशन को,
यह पूछो,
इस लूट में कौन हिस्सेदार नहीं है,

तालियों की गड़गड़ाहट से गोष्ठी का वातावरण सजीव हो उठा।

६

सन् १९७८ के दिल्ली वर्षावास में धर्म-जगत से सम्बन्धित एक ऐसा घटना-प्रसंग सामने आया, जिसने मुझे भीतर-बाहर पूरी तरह से झकझोर कर रख दिया। वह दशाब्दी तथा कथित भगवानों का उदय-काल थी। देश-विदेशों में अनेक भगवानों का जन्म हो चुका था। ऐसे ही एक भगवान के चंगुल में फंसी एक धर्मभीरु विदेशी युवती की दास्तान सामने आई। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारतीय योगियों का अपना अलग ही प्रभाव रहा है। उसी का लाभ उठाते हुए उस तथाकथित

भगवान ने रेडियो, टी-वी तथा प्रेस-माध्यमों से अपने को अवतार के रूप में प्रचारित किया। उस प्रचार-सम्मोहन में अनेक गोरी चमड़ी वाले आ फंसे। उनमें से ही वह युवती एक थी। भगवद्-दर्शन करवाने के लिए गुरु-मन्त्र के साथ उसे चरस का कश दिया गया और वह आनन्द-लोक में पहुंच गई। फिर शुरू हुआ उसके जीवन के साथ खिलवाड़, जिसे अपने भगवान की लीला का प्रसाद मानकर स्वीकार कर लिया। किन्तु सचाई के प्रति जब आंख खुली, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। जीवन तो सब तरह से उजड़ ही गया था, उस कुटिल चंगुल से उसका निकल पाना भी मुश्किल हो रहा था।

इसी बीच भारतीय मानस पर अपना प्रभाव जमाने के लिए वे तथाकथित भगवान जहाज भरकर विदेशी भक्तों को अपने साथ भारत में लेकर आए। उनमें वह युवती भी थी, जो अवसर पाकर वहां से भाग छूटी और एक भारतीय डाक्टर के यहां उसने शरण ली।

यह घटना-प्रसंग जब सामने आया, इन तथाकथित आचार्यों—भगवानों के प्रति मन ग्लानि से भर उठा। भीतर का दर्द इन शब्दों में रो उठा—

घुटता है अब श्वास कि खिड़की खोल दो तुम
रोता है विश्वास कि खिड़की खोल दो तुम
नहीं चाहिए हमें किसी भी प्रभु के दर्शन
बन्द करो बकवास कि खिड़की खोल दो तुम,

मन में आया, इन धर्म-गुरुओं और भगवानों के विष-दंश से बचना बहुत जरूरी है। अगर ऐसा नहीं हुआ तो धर्म के प्रति जन-मानस की आस्था अनास्था में बदल जाएगी।

अपमानों से डरे आज तक सम्मानों से डरना होगा।
अभिशापों से डरे आज तक बरदानों से डरना होगा।
देख धर्म-गुरुओं की हालत हमको तो ऐसा लगता है
शैतानों से डरे आज तक भगवानों से डरना होगा,

कदाचित् यह दर्द इन तथाकथित धर्माचार्यों और भगवानों के विष-दंश के प्रति भोली-भाली जनता की आंख खोल सके।

७

आपात्काल की घोषणा के पश्चात देश में एक शब्द लम्बे समय तक चर्चा का विषय बना रहा। वह शब्द था अनुशासन। अपनी मनमानी व्यवस्थाओं को थोपने के लिए इस गरिमापूर्ण शब्द को नेताओं ने खूब भुनाया। राजनीति और समाज के जीवन में आज नेताओं का चरित्र कैसा रह गया है, यह किसी से छुपा नहीं है। किन्तु दुःख इस बात का है आज धर्म में भी आचार्यों का चरित्र नेताओं जैसा बनता जा रहा है।

आपात्काल से प्रेरणा पाकर एक धर्माचार्य ने अपने धर्म-संघ में उभरते असंतोष को दबाने के लिए अनुशासन-वर्ष की घोषणा का निश्चय किया। इस घोषणा के लिए पूर्ववर्ती प्रभाशाली आचार्य की शताब्दी-महोत्सव को चुना-गया। घोषणा समारोह में राज्य और केन्द्र के अनेक मन्त्री-गण भी उपस्थित थे। स्पष्ट था धर्म नेता और राजनेता दोनों अपने कार्यों पर एक-दूसरे से ठप्पा लगवाना चाहते थे।

अनुशासन और मर्यादा पर जमकर भाषण हुए। नेताओं ने आचार्य की कथा, आचार्य जी ने नेताओं की जी खोलकर सराहना की। संयोजक महोदय मेरे विचारों से परिचित थे। उनको ऊपर से निर्देश भी थे कि मुझे बोलने के लिए समय न दिया जाए। किन्तु जनता की मांग पर संयोजक को मजबूरन

समय देना पड़ा।

धर्म और राजनीति के गठबंधन से चलने वाले लगभग तीन घण्टे के इस नाटक से सामने बैठा जन-समुदाय भीतर-भीतर बहुत दुःखी था। मेरा कवि-मन तो इस सिद्धान्त-हीन गठबन्धन से पूरी तरह आहत था। मंच पर खड़े होते ही कविता की भाषा में मैंने गरजते हुए कहा—

रोशनी की मशालें वे हथियाये हुए हैं
जिनके चारों ओर अन्धेरे छाये हुए हैं
छुपाये हुए हैं जो अपने असली चेहरों को,
वे ही सिर पर आसमान उठाए हुए हैं

तालियों की गड़गड़ाहट से विशाल प्रवचन-पंडाल काफी देर तक गूंजता रहा।

सिद्धान्तहीन राजनीति पर व्यंग्य करते हुए मैंने कहा—नेताजी गांव में वोट मांगने के लिए गए। लोगों ने शिकायत की, पिछले २० वर्षों से आपको ही वोट देते आ रहे हैं, किन्तु विकास-कार्य आज तक एक भी नहीं हुआ है। न यहां स्कूल है न अस्पताल है, न सड़क है। और तो क्या, यहां का श्मसान घाट भी ठीक से नहीं बना है। नेताजी चेहरे को गम्भीर बनाते हुए बोले—भाइयों, इस बार आप मुझे और जिता दें, तो घर-घर में श्मसान-घाट खड़े कर दूंगा।

मैंने कहा—ऐसी स्तरहीन, सिद्धान्तहीन राजनीति के हाथों में धर्म ने अपना दामन पकड़ा दिया है, फिर कहां ठहर पाएगी मर्यादा, कहां टिक पाएगा अनुशासन ? दुःख है पूरा देश सियासत की इस बीमारी से पीड़ित है—

आज पूरा देश-का-देश बीमार हो रहा है,
राजनीति के प्याले में अपना होश खो रहा है,

उठाकर अपने ही हाथों दरिया में तूफान को,
अपने ही हाथों वह अपनी किश्ती डुबो रहा है,

पूरे समाज को आह्वान करते हुए मैंने आगे कहा—

सोचें, आखिर यह नाटक कब तक चलेगा,
इन भाषणों के पानी से चमन कैसे फलेगा,
बदलना होगा हमें इस सम्पूर्ण व्यवस्था को,
अगर धर्म अपने को भीतर से नहीं बदलेगा,

सभा में पूरी तरह सन्नाटा छा गया। मंच के चेहरे पर आने-जाने वाले भावों को भी अच्छी तरह पढ़ा जा सकता था। तभी संयोजक महोदय ने जोर से घण्टी बजाई। यह बैठ जाने का इशारा था। मुझे जो कहना था वह कह चुका था। इससे अधिक कहने का शायद लाभ भी नहीं था। दूसरे ही क्षण मैं अपने आसन की ओर बढ़ गया।

८

व्यवस्था जीवन का अनिवार्य अंग है। चाहे परिवार हो या समाज, एक नियम उसकी सुचारुता के लिए आवश्यक होता है। किंतु नियम ही सब कुछ नहीं होता। भावना नियम से भी ऊपर होती है। भावना के सामने सारे नियम बौने हो जाते हैं। वहां शबरी के जूठे बेर भी भगवान राम का मन जीत लेते हैं, विदुर-पत्नी के छिलके भी भगवान कृष्ण के लिए केले के फल से ज्यादा मधुर होते हैं, दासी चन्दनबाला के उड़द-बाकुले भी भगवान महावीर के लिए राजमहलों के राज-भोग से अधिक स्वादिष्ट होते हैं, संतों की कुटिया भी प्रेम-दीवानी मीरां के लिए महलों की सुमन-शय्या से ज्यादा सुखद होती है। इसी भाव-भूमिका पर एक मुक्तक मन में जन्मा—

यों तो जीवन के हर क्रम में नियम प्रमुख होता है,
किन्तु कभी ऐसा भी अवसर जब सम्मुख होता है,

प्रेम-पगी-पलकों में ज्वार भावना का उमड़ा हो,
उस पल नियम टूटने का भी अपना सुख होता है,

लेकिन नियमों में बंधकर ही सोचने वाले लकीर के फकीरों के लिए नियमों का ही महत्त्व होता है, भावना का नहीं। उनके भीतर एक चट्टानी जड़ता उग आती है, जिस पर भावना-वर्षा की बूंदों का कोई असर नहीं होता। सम्प्रदायपरक चिन्तन की लगभग यही स्थिति होती है। परिणामतः भावना-प्रधान साधना को जड़ता-प्रधान मजहब से बराबर जूझना पड़ता है।

यही मेरे साथ हुआ। धर्म-संघ का सिंहासन हिल उठा। दरबार में हाजिर होने का आदेश मिला। जबर्दस्त जवाब-तलबी हुई। और वे शब्द तो आज भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं नियम टूटने का सुख⋯मुनि होकर ऐसी कविताएं लिखते हो?

प्रेम-पगी-पलकों में ज्वार भावना का उमड़ा हो,
उस पल नियम टूटने का भी अपना सुख होता है

तिरस्कारपूर्ण ढंग से इन पंक्तियों को दुहराते हुए कहा गया— या तो इन पंक्तियों को बदल दो या फिर यह मुक्तक न कहीं छप सकेगा, न कहीं पढ़ा जा सकेगा।

दूसरे विकल्प को स्वीकार करते हुए मैं उठकर चला आया।

६

एक सम्प्रदाय-विशेष के आचार्य को ऐसा लग रहा था कि दूसरे सम्प्रदाय का आचार्य मेरे भक्तों को तोड़ने में लगा है। कुछ स्थानों पर ऐसा हुआ भी था। इससे प्रथम आचार्य के मन में दूसरे आचार्य के प्रति प्रतिशोध की आग भड़कने लगी। वे बराबर इस ताक में थे कि कोई साम्प्रदायिक मुद्दा उछाल-

कर भक्तों को वापस मोड़ा जाए, दूसरे आचार्य भी भिड़ने के लिए पूरी तरह से तैयार थे। दोनों आचार्यों के बीच जमकर शीत-युद्ध शुरू हो गया। दोनों आचार्यों के भाषणों में खुलकर एक-दूसरे के विरुद्ध भड़काने वाली बयान-बाजी होती। पिछली आलोचना, भद्दे आक्षेप-आरोप, गन्दी इश्तिहार बाजी के साथ-साथ भक्त-समुदाय में कई बार सीधी मुठभेड़ होते-होते भी बची। तरह-तरह की अफवाहों से समाज के मानस में घृणा के विष-वृक्ष तेजी से फलने-फूलने लगे।

इन सारी घटनाओं से मेरा मन अत्यन्त खेद-खिन्न हो उठा। इसी सन्दर्भ में धर्माचार्यों को सम्बोधित करते हुए मैंने कुछ मुक्तक लिखे। वे ये हैं—

(१)

मैं नहीं कहता, अपनी परंपराएं छोड़ दीजिए
अपना संबन्ध दूसरे संप्रदाय से जोड़ लीजिए
एकता यदि संभव नहीं है मेरे धर्माचार्यों।
तो हमारे में फूट डालना तो छोड़ दीजिए,

(२)

आज हमारे फटे दिलों को सीने वाला चाहिए
आग लगाने वाला नहीं, आग पीने वाला चाहिए
अहिंसा प्रेम के उपदेश सुनते, ऊब चुके हैं हम
अब उपदेश देने वाला नहीं, उसे जीने वाला चाहिए

(३)

बहुत बार लगता है, धर्म एक आफत है, बला है
भोले-भाले लोगों को ठगने की सीधी-सी कला है
प्रेम का प्रकाश आने दें इस मशाल से, धर्माचार्यों!
इसमें आपका भी भला है, हमारा भी भला है

पानी के बदले आग बरसाने वाला अम्बर नहीं चाहिए
हंसते चमन को दलदल बनाने वाला समन्दर नहीं चाहिए
चैन से जीने न देकर जो फूट डालते हैं हमारे में
वैसे धर्माचार्य तो क्या, हमें तीर्थंकर भी नहीं चाहिए,

× × ×

भगवान महावीर के पच्चीसवें निर्वाण शताब्दी महोत्सव की तैयारियां राष्ट्रीय स्तर पर बड़े जोर-शोर से चल रही थी। इसी संदर्भ में बम्बई महानगर में एक विशाल जन-सभा का आयोजन जैन समाज की ओर से किया गया था। विषय था जैन-एकता। सभी जैन संप्रदायों के प्रतिनिधि आचार्य तथा मुनि-गण उसमें आमन्त्रित थे। अपने प्रवचन-प्रसंग में मैंने कहा—यदि सभी संप्रदायों के आचार्य तथा मुनियों में एकता स्थापित हो जाए तो समाज में एकता आने में कोई देर ही न लगे। समाज में जो बिखराव है उसके लिए आचार्य तथा मुनि-जन ही जिम्मेवार हैं। प्रसंग-वश मैंने ये मुक्तक भी सभा में पढ़े।

उपस्थित जन-समुदाय ने मुक्तकों को खूब सराहा। बार-बार तालियां बजाकर लोगों ने अपनी हर्ष-सहमति प्रकट की। किन्तु आचार्य महाराज भयंकर रूप से कुपित हो उठे। उन्होंने अपने पूरे प्रवचन में मुझे ही आड़े हाथों लिया। अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं की सर्वोच्च स्थापना करते हुए वे मेरे पर तीखे व्यंग्यों की वाण-वर्षा करते रहे। उनकी दुर्वासा-मुद्रा देखकर बीच-बीच में मुस्करा देता। मेरी हर मुस्कान के साथ वाण-वर्षा की बौछार और तेज हो जाती।

लगभग ४५ मिनट तक वह वाण-वर्षा चली। आचार्य के

उदग्र क्रोध के सामने सारा जन-समुदाय तनावपूर्ण सन्नाटे में आ गया था। उनका प्रवचन पूरा होने पर लोगों ने चैन की सांस ली। तभी मैंने हंसते हुए कहा—यह प्रसन्नता का विषय है, मुक्तकों के माध्यम से जो बातें मैंने आपके समक्ष कही थी, आचार्य महाराज ने उनको सही साबित करने वाली एक जीती-जागती मिसाल हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दी है। मैं सोचता हूं अब मेरी बातों में आपको कोई संदेह नहीं रह जायेगा।

यह सुनते ही उपस्थित जन-समुदाय के चेहरे पर एक हंसी छलक आई। अब पूरा वातावरण तनाव-मुक्त था।

मृत्यु सुखद है, दुःखद नहीं

एक पौराणिक प्रसंग है। एक बार धर्मराज ने यम देवता को आदेश दिया कि मृत्युलोक से यहां पांच हजार आत्माओं को हाजिर किया जाए। यमराज एक विशाल जनपद में पहुंचे। पूरे जनपद में अचानक महामारी का प्रकोप फैल गया। हजारों नर-नारी एक साथ कालकवलित हो गए।

दूसरे दिन यमराज पांच हजार आत्माओं के साथ धर्मराज के दरबार में पहुंचे। धर्मराज ने देखा, उन पांच हजार आत्माओं के पीछे दस हजार और आत्माएं भी चली आ रही हैं। उन्होंने यमराज से कहा- मैंने तुम्हें केवल पांच हजार आत्माओं को लाने का आदेश दिया था। तुम इनके साथ दस हजार और आत्माओं को क्यों लाए हो? यमराज ने पीछे झांका। सचमुच ही दस हजार और आत्माएं उनके पीछे-पीछे चली आ रही थी। यमराज ने उत्तर दिया—मैंने तो पांच हजार आत्माओं के लिए ही मौत का पंजा फैलाया था। ऐसा लगता है शेष दस हजार आत्माओं ने तो मेरे डर से ही प्राण छोड़ दिए। किन्तु इनकी मृत्यु के लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूं।

सारांश यह है कि मृत्यु के बजाय मृत्यु के भय से मरने वालों की संख्या ज्यादा होती है। तब प्रश्न होता है क्या मृत्यु अपने में सचमुच ही इतनी भयावह है?

साधारणतया हमारी यही धारणा है कि मृत्यु अपने में

भयंकर होती है। व्यक्ति को सबसे अधिक डर मौत का ही लगता है। मृत्यु के नाम से ही वह घबराता है। बलवान से बलवान पुरुषों को भी मौत के समय लाचार गिड़गिड़ाते हुए देखा गया है। किन्तु मृत्यु पर होने वाले आधुनिक अनुसंधानों के परिणाम इस तथ्य से सहमत नहीं हैं। प्रसिद्ध प्राणी शास्त्री डा० विलियम हण्टर ने अपने अन्तिम क्षणों में कहा—अगर मेरे में लिखने की ताकत होती तो विस्तार से लिखता कि मृत्यु अपने में कितनी सरल और सुखद होती है। महान् विचारक कोहन्स ने मृत्यु का विवेचन देते हुए कहा—लगता है मेरे शरीर पर फूल ही फूल छा गए हैं। हैनरी ने काव्य की भाषा में कहा—बत्तियां जला दो, मैं अन्धकार में नहीं जाऊंगा। विश्व-विख्यात वैज्ञानिक थामस एडिसन जब अन्तिम सांसें गिन रहे थे, डाक्टर ने देखा, वे कुछ कहना चाहते हैं। डाक्टर उनके निकट झुके। उन्होंने स्पष्ट सुना, एडिसन कह रहे थे,...... वहां सब कुछ बहुत सुन्दर है।

बोस्टन निवासी डाक्टर मूर रसेल फ्लेचर ने लगातार २५ वर्षों तक मृत्यु पर अनुसंधान के बाद ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम है—डिट्राइज आन सस्पेंडेंस इण्टिमेशन। इस ग्रन्थ में मृत्यु के उपरान्त पुनर्जीवन पाने वाले अनेक व्यक्तियों के घटना-प्रसंग संकलित हैं। गानांगिर निवासी श्रीमती जान डी० ब्लेक, डाक्टरों द्वारा मृत घोषित होने के तीन दिन बाद पुनः जीवित हो उठी। मृत्यु को एक सुखद घटना मानते हुए उसने बताया मैं एक ऐसे लोक में पहुंची, जिसे परियों का देश कहा जा सकता है। वहां रहने वाली सभी आत्माएं बिना पंखों के, आसानी से आसमान में उड़ती रहती थीं। सबके चेहरे पर खूब प्रसन्नता झलकती थी। उन आत्माओं में मेरी कुछ मृत सहेलियां थीं। एक अध्यापिका ने अपने संस्मरण में बताया—मृत्यु देश के सभी निवासी खूब प्रसन्न थे। किसी के भी मुख

पर विषाद नहीं था। सभी मनोरंजन और आमोद-प्रमोद में मस्त थे।

इसी प्रकार डेट्रायर (अमेरिका) के एक अखबार ने कुछ वर्षों पूर्व 'उस पार' शीर्षक से एक निबन्धमाला प्रकाशित की थी। इस निबन्धमाला में उन व्यक्तियों के संस्मरण प्रकाशित किये गए, जो मरने के बाद पुनः जीवित हो उठे थे। उनमें एक संस्मरण मियामी निवासी लेन मेलविन का है। वे लिखते हैं— मृत्यु से पूर्व तीव्र ज्वर के कारण मेरे मस्तिष्क में भारी जलन हो रही थी! अचानक सब कुछ शान्त हो गया। मैं जैसे हवा में तैरने लगा। अपने चारों ओर का वातावरण मुझे अत्यन्त सुहावना और रंगीन लगा। एक अद्‌भुत शक्ति, स्वतन्त्रता तथा शीतलता का अनुभव मुझे हो रहा था। इस आश्चर्य-जनक स्थिति का कारण मैं पहले तो समझ नहीं सका। फिर मैंने जाना कि मैं मर गया हूं। और आत्मा के रूप में स्वच्छन्द विचरण कर रहा हू। तभी अचानक ऐसे लगा जैसे किसी ने मुझे शरीर में पुन: धकेल दिया हो। मैं पुन: जीवित हो उठा। धीमे से आंख खोल कर मैंने देखा, परिवार वाले मेरे शरीर को दफ-नाने की आवश्यक तैयारियों में लगे थे।

मृत्यु पार की घटनाओं में बच्चों से सम्बन्धित प्रसंगों को अधिक प्रामाणिक माना जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि में भी मरणासन्न बच्चों के विवरण अधिक महत्व रखते हैं। क्योंकि उनमे कृत्रिमता, काल्पनिकता अथवा दूसरों द्वारा वर्णित अनुभवों से प्रभावित होने की सम्भावना कम रहती है।

पश्चिमी जर्मनी के डाक्टर लोथर विट्‌जल ने मरणासन्न मरीजों पर बड़ा शोध-कार्य किया है। उन घटनाओं में एक उल्लेखनीय प्रसंग हैं दस वर्षीय बालिका डेजी ड्राइडन का। डेजी की मृत्यु दस वर्ष की अल्पायु में ही पेट की खराबी के

और टाइफाईड के कारण हो गई थी। अपने अंतिम दिनों में वह एक अन्य अलौकिक जगत के बारे में बातें करती रहती। उसके माता-पिता आश्चर्य-चकित-से उन बातों को लिपिबद्ध कर लेते।

अपनी मृत्यु से पहले लगातार तीन दिनों तक वह दूसरे लोक के बारे में बताती रही। उसे मरणासन्न देख कर फादर ने कहा—अब तुम ही 'काली नदी' (वैतरणी) पार कर जाओगी। फादर के जाने के बाद उसने अपने पिता से 'काली-नदी' का तात्पर्य पूछा—पिता ने धर्मिक विश्वास के अनुसार 'काली नदी' (वैतरणी) के बारे में बताया। उस पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते डेजी ने कहा, यह सब गलत है। ऐसी कोई नदी नहीं है। बीच में कोई पर्दा ही नहीं होता। एक रेखा भी नहीं होती, जो इस जीवन को उस जीवन से पृथक् करती है। अपने छोटे-छोटे हाथ फैलाती हुई भावावेश में बोली—यह यहां और वह वहां है। मैं जानती हूं ऐसा ही है। क्योंकि मैं तुम सबको और साथ-साथ उन सबको देख रही हूं।

जब उसे न्यू एस्टामेंट सुनाया जा रहा था, उसके एक अंश पर कि 'मेरे पिता के नगर में अनेक अट्टालिकाएं हैं,' डेजी ने एकदम टोकते हुए कहा—मुझे तो वहां कोई भी मकान नजर नहीं आ रहा। तभी मां ने धीरे से कहा—डेजी, क्या तुम नहीं जानती कि बाइबिल में स्वर्ग को एक सुन्दर नगर बताया गया है। उसने फिर कहा—मुझे तो कोई नगर दिखाई नहीं देता। देवदूतों के बारे में उसने अपनी बहिन लूलू से कहा—हम हमेशा सोचते थे कि देवदूतों के पर हुआ करते हैं। लेकिन यह हमारा भ्रम है। उनके कोई पर नहीं होते।'

डेजी की मृत्यु के विवरण का अन्तिम चरण बहुत ही रोचक है। उस बारे में उसकी माता द्वारा दिया गया वर्णन इस प्रकार है—

"वह अक्सर मरने के बारे में बातें करती और लगता था कि उसे अपने भावी जीवन व खुशियों का इतना आभास था कि वह मृत्यु के भय से बिल्कुल मुक्त हो चुकी थी। आत्मा के गमन का रहस्य नहीं था। उसके लिए यह सब जीवन का ही एक सतत प्रवाह था—इस लौकिक जगत से एक स्वर्गिक लोक में।"

"जिस दिन उसका देहावसान हुआ, प्रातः उसने मुझ से दर्पण मांगा। मैं, यह सोच कर कि अपना रक्तहीन चेहरा देख कर उसे आघात लगेगा, हिचकिचाई। लेकिन उसके निकट बैठे उसके पिताजी बोले—उसे अपना चेहरा देख ही लेने दो, अगर चाहती ही है तो। अस्तु, मैंने उसे दर्पण दे दिया। दर्पण को अपने दोनों हाथों में पकड़ कर वह कुछ देर अपना प्रतिबिम्ब देखती रही—शान्त व उदास। कुछ देर बाद वह बोली—मेरी यह देह जर्जर हो गई है। यह वहां टंगी मामा की पुरानी पोशाक की तरह है। वह अब उसे नहीं पहनती और मैं भी अब अपनी देह को अधिक धारण नहीं करूंगी। क्योंकि मेरी एक आध्यात्मिक देह है। जो इसका स्थान ले लेगी—मेरा शरीर भी ऐली की भांति सुन्दर होगा।" उसके बाद वह मुझ से बोली—"मम्मी! सब खिड़कियों के पट खोल दो और मुझे इस संसार को अंतिम बार देख लेने दो—कल सुबह तक मैं चली जाऊंगी।" जब मैंने उसकी यह भावना पूरी कर दी तो वह अपने पिताजी से बोली—"पापा मुझे थोड़ा ऊंचा कर दो।" फिर अपने पिताजी का सहारा लिए हुए, उसने खिड़कियों से, जिनके पट मैंने खोल दिए थे, बाहर देखते हुए चिल्ला पड़ी—अलविदा आसमान, अलविदा पेड़ों, अलविदा लाल-गुलाब, अलविदा पुष्पों—अलविदा सफेद-गुलाब, अलविदा ए खूबसूरत संसार। मैं इसे कितना प्यार करती हूं। लेकिन अब मैं यहां ठहरना नहीं चाहती।"

"उसी दिन शाम को साढ़े आठ बजे, उसने स्वयं ही समय देखा और बोली, "अभी साढ़े आठ बजे हैं, जब साढ़े ग्यारह बजेंगे, ऐली मुझे लेने आएगा।" (एली उसका छोटा भाई था, जिसकी मृत्यु कुछ माह पूर्व हुई थी) फिर वह कुछ देर अपने पिताजी के सीने से लगकर और अपना सिर उनके कन्धे पर टिकाए विश्राम करने लगी। इस तरह लेटना उसे बहुत पसन्द था। क्योंकि इस स्थिति में उसे आराम मिलता था। वह बोली—"पापा, मैं इसी तरह मरना चाहती हूं। जब समय आएगा, मैं आपको बतला दूंगी।"

करीब सवा ग्यारह बजे वह बोली—"पापा, अब मुझे कुछ ऊंचा कर दो, ऐली आ गया है मुझे लेने।" फिर उसने हमसे भजन गाने को कहा—जैसे ही घड़ी के कांटे ने साढ़े ग्यारह (वह समय जिसकी उसने भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि ऐली उसे लेने आएगा) बजाए, उसने अपनी दोनों बाहें फैलाई और बोली—"आओ ऐली।" और वह उसकी अन्तिम श्वास थी। सारे कमरे में गम्भीर शान्ति छा गई। हम रो भी नहीं पाये।

शोध के प्रकाश में आने वाली ऐसी अनेक घटनाएं यह सिद्ध करती हैं कि मृत्यु कोई दुःखद घटना नहीं, किन्तु दुःखों से मुक्त करने वाली एक सुखद घटना है।

क्या स्वर्ग और नर्क है ?

बहुत बार यह प्रश्न सामने आता है। क्या स्वर्ग और नरक जैसा कुछ है, जहां व्यक्ति अपने पुण्य और पाप के फल भोगता है। यह भी तर्क दिया जाता है कि आज विज्ञान ने धरती का चप्पा-चप्पा छान लिया, चांद की धरती पर उसके चरण टिक गये हैं, चांद से उसने पृथ्वी के चित्र भी ले लिए हैं। उन चित्रों से यह स्पष्ट है कि पृथ्वी के ऊपर-नीचे, दाँए-बाएं स्वर्ग-नरक जैसा कुछ भी नहीं है। जबकि धर्म-शास्त्रों में पृथ्वी से नीचे नरक-लोक तथा ऊपर स्वर्ग-लोक बताया है। पृथ्वी से जुड़े हुए स्वर्ग और नरक लोक यदि हैं तो पृथ्वी के साथ उनके चित्र भी आने चाहिए थे। किन्तु ऐसा नहीं है, इसलिए भी स्वर्ग और नरक के अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न लग जाता है। ये सारे प्रश्न सोचने को मजबूर करते हैं, क्या स्वर्ग और नरक का कोई भौगोलिक अस्तित्व है ?

इसमें पहली बात हमें यह समझना है कि विज्ञान की पकड़ में जितना आया है, यह जगत उतना ही नहीं है। विज्ञान के पितामह माने जाने वाले अल्बर्ट आइन्स्टीन ने स्वयं कहा था कि समुद्री किनारे पर फैले असंख्य रज-कणों के विस्तार में से विज्ञान ने केवल एक रज-कण जितना इस जगत के बारे में जाना है। फिर हम कैसे दावा कर सकते हैं इस पृथ्वी की तरह अन्य कोई लोक है ही नहीं। स्वयं विज्ञान के शब्दों में—

हमारी इस एक आकाश गंगा में असंख्य पृथ्वियां हैं। इस नभ-मण्डल में ऐसी असंख्य आकाश-गंगाएं हैं। और हर आकाश-गंगा में असंख्य पृथ्वियां हैं। हम कल्पना तो करें, असंख्य आकाश-गंगाएं और हर आकाश-गंगा में असंख्य पृथ्वियां, इस लोक-विस्तार की थाह पाना क्या संभव है? फिर इस दृश्य आकाश-गंगा की असंख्य पृथ्वियों में कितना नगण्य-सा ज्ञान है इस धरती का? और इस धरती के भी कितने रहस्य अभी तक विज्ञान की आंखों से ओझल पड़े हैं। उस स्थिति में शास्त्र-वर्णित स्वर्ग-नरक लोक को गप्प कह देना संभवतः उचित नहीं होगा।

दूसरे में, विज्ञान जैसे जगत के रहस्यों को खोलने में प्रयत्नशील है, वैसे ही मनोविज्ञान और परा-मनोविज्ञान जीवन के रहस्यों को समझने के लिए भी सचेष्ट हैं। मनोविज्ञान का अनुसंधान क्षेत्र वर्तमान जीवन है और परा-मनोविज्ञान का मृत्यु, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म। इसी संदर्भ में पिछले वर्षों कुछ ऐसी पुस्तकें भी प्रकाश में आई हैं, जिनके लिए यह दावा किया गया है कि ये पुस्तक मृतात्माओं द्वारा अपने मित्र, परिवार-जन के माध्यम से लिखी गई है। यह भी बताया गया है कि वे माध्यम उस विषय-वस्तु और भाषा तक से वैसे सर्वथा अनजान रहे हैं। उन सभी पुस्तकों में उन मृतात्माओं ने प्रकाश-लोक और अन्धकार लोक की समान रूप से चर्चा की है। और यह भी बताया है कि ये लोक इस धरती से जुड़े हुए ही हैं। प्रकाश-लोक जहां सुखमय है, वहां अन्धकार लोक दुःखमय है। ये लोक धरती से जुड़े हुए हैं तो आंखों से दिखाई क्यों नहीं देते हैं? इसके उत्तर में कहा गया है कि इनका स्थूल चक्षुओं से दिखाई देना संभव नहीं है।

प्रकाश-लोक और अन्धकार-लोक की चर्चा उन व्यक्तियों ने भी की है, जो एक बार पूर्णतः मृत होने के बाद

पुनः जीवित हो उठे हैं। मृत्यु, पुनर्जन्म और पुनर्जीवन पर देश-विदेश में आज अनेक संस्थाएं कार्यरत हैं। इन संस्थाओं का कार्य मृत्यु के क्षण का अनुभव, मृत होने के बाद पुनर्जन्म पाने तक के अनुभव तथा पुनर्जन्म होने पर पिछले जीवन के अनुभवों को संकलन तथा वैज्ञानिक पद्धति से खोजबीन करना है। इस खोज में पुनर्जीवन पाने वाली अनेक आत्माओं ने, प्रकाश लोक और अन्धकार लोक के अनुभव बताएं हैं। ऐसी ही एक संस्था है 'इण्टरनेशनल एसोसियेशन फोर नियर डेथ स्टडीज।' यह संस्था मृत्यु के बाद जीवित होने वाले व्यक्तियों और उनके परिवारों से संपर्क करती है और उनके अनुभवों को संकलित करती है।

इस संस्था की अध्यक्षा है मार गॉट गे। मार गॉट गे की एक नई पुस्तक अभी प्रकाशित हुई है जिसका नाम है 'रिटर्न फ्रॉम डेथ।' इस पुस्तक में पुनर्जीवन पाए हुए व्यक्तियों के अनुभव प्रकाशित हैं। उनमें एक अनुभव है एक ऐसे व्यक्ति का जिसकी हृदयशूल के दौरे से मृत्यु हो गई। थोड़ी देर बाद वह पुनः जीवित हो उठा। उसने अपना अनुभव बताते हुए कहा—मेरे चारों ओर घना अन्धेरा था और मुझे अत्यन्त करुण विलाप सुनाई पड़ रहा था। वहां और भी बहुत से प्राणी थे। वे सब गहरी निराशा में थे और दुखित मन से विलाप कर रहे थे। उन बातों को अब मैं याद नहीं करना चाहता? क्योंकि मुझे फिर से मृत्यु का भय महसूस होने लगता है। जहां तक मेरे अनुभव का प्रश्न है, मैं निश्चित रूप से कह सकता हूं कि वह नरक था।

इसी से मिलता-जुलता उदाहरण है आंत्रशोथ और विषाक्त सड़न से पीड़ित एक मरीज का। उसके अपोण्डक्स में यह रोग था। वह अपने अनुभवों में लिखता है—मृत्यु के बाद मुझे लगा कि मैं अन्धकारपूर्ण शून्य में पहुंच गया हूं। उस

सघन अन्धेरे में मैं समान्तर बल्लियों पर अपनी बांहों के सहारे टंगा हुआ था। मैं जानता था कि मेरी पकड़ ढीली पड़ी, तो जीवन मुझसे छूट जाएगा। यह भी मैं निश्चित रूप से जानता था कि अगर मैं निराश हुआ, तो मेरी मृत्यु अवश्य हो जाएगी। लेकिन बल्लियों पर लटके रहने की कष्टमय पीड़ा मुझे थोड़ी देर झेलनी पड़ी। मुझे जल्दी ही अपने प्राणों का लौटना महसूस हुआ और मैं जीवित हो गया।

ये अनुभव हैं अन्धकार से लौटी हुई आत्माओं के। इसी प्रकार कुछ अनुभव उन आत्माओं के भी सामने आए, जो प्रकाश-लोक से लौट कर आई थी। ३६ वर्षीय डेविड को चार वर्षों पूर्व दिल का दौरा पड़ा। उसने अपने अनुभवों में कहा—इस दौरे का मुझे पहले ही आभास हो गया था। इसलिए फोन करके एम्बुलेंस मंगा लिया गया। जब मुझे दौरा पड़ा तो ऐसे लगा जैसे मैं अपने शरीर से बाहर निकल आया हूं, उस प्रकाश में मुझे अलौकिक आनन्द की अनुभूति हो रही थी।

मैं स्वयं को एक सुलझे विचारों और संतुलित मस्तिष्क का व्यक्ति मानता हूं। मेरे रहस्यमय अनुभव का मेरे सिवा और कोई विश्वास नहीं कर सकता है। लेकिन मेरा अनुभव सच है। मेरी जैसी मरणसन्न दशा में, जिनकी मृत्यु सचमुच हो जाती है, वे तो अपना अनुभव बता नहीं पाते हैं, किन्तु मेरी तरह जो मौत से गुजरकर लौटे हैं, उनके अनुभव भी ऐसे ही होते होंगे। —और वह अलौकिक प्रकाश। उसका वर्णन मैं शब्दों में नहीं कर सकता। जब भी उस पर एकाग्र होता हूं, रोमांच हो आता है। उस दिव्य प्रकाश का ही प्रभाव है कि अब मुझे मृत्यु से भय नहीं लगता है।

इस प्रकार के सैकड़ों अनुभव आज भी प्रकाश में आ रहे हैं। इन अनुभवों में अन्धकार लोक और प्रकाश लोक की चर्चाएं समान रूप से मिलती हैं। इन अनुभवों से यह भी

सिद्ध होता है कि अन्धकार लोक में दुःख ही दुःख है, भयंकर वेदना ही वेदना है, प्रकाश-लोक में सुख ही-सुख है, आनन्द ही आनन्द है। इस दुःख और वेदना का चित्रण ही शास्त्र-वर्णित नरक में हैं, सुख और आनन्द का वर्णन स्वर्ग में है। दूसरे शब्दों में कहें तो दुःख ही नरक है, सुख ही स्वर्ग है।

प्रश्न होता है कि स्वर्ग और नरक का भौगोलिक अस्तित्व कहां है ? धर्म-शास्त्र कहते हैं इस धरती के नीचे नरक है और ऊपर स्वर्ग है। मृतात्माओं के अनुभव भी अन्धकार लोक और प्रकाश लोक को पृथ्वी से जुड़ा हुआ मानते हैं। तब फिर पृथ्वी लोक के चित्र में स्वर्ग और नरक क्यों नहीं आते। मृतात्माओं द्वारा लिखित पुस्तकों में इसका उत्तर दिया गया है कि हमारा जगत इन स्थूल चक्षुओं द्वारा दीखना संभव नहीं है। न वह मनुष्य की आंखों से देखा जा सकता है और न ही कैमरे द्वारा उसका फोटो लिया जा सकता है। इस उत्तर से हो सकता है, हमें संतोष न हो। किंतु यह भी स्पष्ट है बहुत सारे तथ्य इस धरती पर आज भी हमारे समक्ष हैं, जिनका विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं है। बरमूडा-त्रिकोण, जिसमें से गुजरने वाले वायुयान-के-वायुयान, समुद्री जहाज-के-जहाज गायब हो जाते हैं। पर वे कहां चले जाते हैं, इसका विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं है। स्थिति यह है कि इस रहस्य की खोज में आज तक सैकड़ों जहाज और व्यक्ति गायब हो चुके हैं। मिस्र के पिरामिड, समय-समय पर प्रकट होने वाली उड़न-तश्तरियां आदि अनेक ऐसे रहस्य हैं, जिनका विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं है।

सात सरहदें (Sayers) क्या हैं ?

चन्द्रलोक की यात्रा में मनुष्य पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होने के बाद ही चन्द्रमा के क्षेत्र में प्रवेश करता है।

विज्ञान का अभिमत है उस गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होने के लिए उसे सात सरहदें (Sayers) पार करनी होती हैं। इसके बाद ही चन्द्रमा का गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र प्रारम्भ होता है। प्रश्न होता है ये सात सरहदें (Sayers) क्या हैं और ये सरहदें किसकी हैं? इतना तो निश्चित है कि इन सरहदों तक पृथ्वी से ही जुड़ा हुआ विस्तार क्षेत्र है। तो फिर ये सरहदें पृथ्वी से ही जुड़े हुए किसी अदृश्य लोक की ही सूचना क्यों नहीं देती हैं?

धर्म-शास्त्र कहते हैं पृथ्वी से ही जुड़े हुए नरक और स्वर्ग-लोक हैं। इन शास्त्रों का यह भी मानना है स्थूल देहधारी प्राणियों की आंखों से इन लोकों को देख पाना संभव नहीं है। मृतात्माओं और पुनर्जीवन पाने वाली आत्माओं का भी यही कहना है। इस स्थिति में विज्ञान द्वारा प्रतिपादित ये सात सरहदें और धर्म-शास्त्रों द्वारा प्ररुपित नरक-स्वर्ग, क्या किसी रहस्य-लोक की ओर ही इशारा नहीं करते हैं?

नरक-लोक में वर्णित भयंकर वेदना और स्वर्ग-लोक में वर्णित महान सुखों का जहां तक सवाल है वे प्रतीकात्मक लगते हैं। यही कारण है भारतीय-मान्यताओं में जहां स्वर्ग में दूध और अमृत की नदियां बहती हैं, वहां अरब-मान्यता के स्वर्ग में शराब की नदियां बहती हैं। इसी प्रकार सुख:दुख की अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप स्वर्ग और नरक की परि-कल्पना गढ़ ली गई है। इस प्रतीकात्मक वर्णन का अर्थ इतना ही है कि स्वर्ग-सुख प्रधान है और नरक दुःख-प्रधान है।

आत्मा में ही है स्वर्ग और नरक

भगवान महावीर ने स्वर्ग और नरक का आध्यात्मिक विवेचन देते हुए कहा—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं

आत्मा वैतरणी नदी है। आत्मा ही कूटसाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामधेनु गाय है। और आत्मा ही नंदन वन है। यहां वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष का संबन्ध नरक से है और कामधेनु गाय और नन्दनवन का संबन्ध स्वर्ग से है। कहा जाता है वैतरणी का पानी क्षुर-धारा की तरह अत्यन्त तीक्ष्ण होता है। प्यास से आकुल प्राणी जब पानी के लिए वैतरणी में पहुंचता है, तब वह उस धारा वाले पानी से विदीर्ण हो जाता है। कूटशाल्मली के बारे में कहा गया है कि यह अति तीक्ष्ण कोणों वाला वृक्ष है। इसके पत्ते तलवार की धार के समान है, इसके फल भयकर जहरीले होते हैं। नरक वासी प्राणी ठण्डी छांह के लिए जब इस पेड़ के नीचे जाता है, तब वह उन तीक्ष्ण कांटों तथा तलवार की धार वाले पत्तों से बींधा जाता है। भूख से व्याकुल वह जब जब उसके फलों को खाता है, तब उन जहरीले फलों से महान विषाद को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार कामधेनु गाय और नन्दन वन का संबन्ध स्वर्ग से है। कामधेनु समस्त मनोकामनाओं को पूरा करने वाली है, नन्दन-वन आमोद-प्रमोद और रमण-क्रीड़ा के लिए स्वर्गीय उद्यान है, जहां बारहों महीने सौन्दर्य-सुषमा की बहार रहती है।

भगवान महावीर कहते हैं आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूटशाल्मली वृक्ष है, आत्मा ही कामधेनु गाय है — और आत्मा ही नन्दन वन है। सीधे शब्दों में कहें, तो आत्मा ही नरक है आत्मा ही स्वर्ग है। यह एक क्रान्तिारी व्याख्या है, जो भौगोलिक स्वर्ग नरक से जुड़े सारे प्रश्नों को समाधान की नई दिशा प्रदान करती है। महावीर कहते हैं, जिस आत्मा में क्रोध है, अहंकार है, माया है, लोभ है—प्रतिशोध है, ईर्ष्या है, घृणा है, हिंसा है, उसका जीवन नरकमय है। जिस आत्मा में

प्रेम है, करुणा है, संयम है, क्षमा है, सहजता है, सरलता है, उसका जीवन स्वर्गमय है। हम अनुभव कर सकते हैं, जिसमें हिंसा, ईर्ष्या, प्रतिशोध, की आग भभक रही है, वह व्यक्ति नारकीय जीवन ही जी रहा है, चाहे वह बाहर से कितना ही वैभव-संपन्न क्यों न हो। जिसमें विश्वास, प्रेम, मैत्री, क्षमा और निरंहकार का अमृत टपक रहा है, वह स्वर्गीय जीवन जी रहा है, चाहे वह बाहर से कितना ही साधारण क्यों न हो। नरक कुटिया में नहीं, मन में है। स्वर्ग महलों में नहीं, चित्त की वृतियों में है। हम अपने चित्त और चेतना को सम्हालें, नरक-स्वर्ग इसमें ही मिल जायेंगे।

मृत्यु वरदान है अभिशाप नहीं

साधारणतया मृत्यु को अभिशाप माना जाता है। किन्तु मृत्यु वस्तुतः प्रकृति का एक अनोखा वरदान है। हम कल्पना करें एक ऐसे संसार की जिसमें सब कुछ उत्पन्न ही उत्पन्न होता रहे, किसी का विनाश न हो, सब कुछ जन्म लेता रहे, किसी की भी मृत्यु न हो। यह कल्पना भी अपने में भयावह है। मृत्यु के बिना जीवन भी नरक बन जायेगा। जीवन सुखद इसलिये है, क्योंकि इसके साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। मृत्यु ने ही जीवन को हर बार नया अर्थ दिया है, नया संगीत दिया है, नई दिशाएं दी हैं। अगर मृत्यु न होती, जीवन एक वीरान रेगिस्तान हुआ होता, मृत्यु के बिना जीवन का कटना मुश्किल हो जाता है।

कहते हैं सम्राट सिकन्दर के मन में अमर बनने की धुन सवार हुई। जब वह पूर्व के मुल्कों की यात्रा पर था, उसने सुना कि मरुस्थल में एक पुराना झरना है, जिसमें डुबकी लेने से आदमी अमर बन जाता है। खोज करते-करते वह उस झरने के पास पहुचा। झरने में वह डुबकी लेने ही वाला था कि अचानक उसके कानों में किसी के शब्द पड़े। उसने चौंक-कर देखा कि सामने एक कौवा खड़ा उसे कह रहा है—डुबकी लेने से पहले ठण्डे दिमाग से सोच लो। ऐसा न हो, बाद में मेरी तरह तुम्हें पछताना पड़े। कौवों में मैं भी सिकन्दर हूं। अमर बनने की भनक मेरे सिर पर भी सवार हुई। मैंने इस

झरने में डुबकी ले ली। किन्तु अब मैं पछता रहा हूं क्योंकि सदा एक से जीवन से मैं उकता गया हूं। किंतु उसका कहीं अन्त ही दिखाई नहीं दे रहा है। अब इस जीवन से छुटकारा मिले तो कैसे मिले ? मैं इस खोज में हूं कि मुझे कोई एन्टीडोट मिले जिससे कि मैं अमरता के अभिशाप से मुक्त हो जाऊं। मृत्यु का वरदान मुझे वापस मिल जाये। इसलिए मैं आपसे कह रहा हूं, आप भी डुबकी लेने से पहले पूरी तरह सोच लें। और कहते हैं कि उसके बाद सिकन्दर ने अमर बनने का विचार त्याग दिया।

मृत्यु अपने में वरदान है। उनके लिये भी, जिन्होंने सार्थक जीवन जिया है, और उनके लिये भी जिन्होंने उद्देश्यहीन जीवन जिया है और उनके लिये भी, जिन्होंने पवित्र-निष्पाप जीवन जिया है और उनके लिये भी, जिन्होंने कलुष-पापमय जीवन जिया है। जिन्होंने सार्थक और पवित्र जीवन जिया है; उनके लिये मृत्यु महोत्सव है, बंधनों से मुक्त होने का अवसर है। संत कबीर के शब्दों में—

जा मरने से जग डरे, मो मन में आनंद,
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरण परमानंद।

जिस मृत्यु से जग डरता है, उसके लिए मेरे मन में आनंद है कि मैं कब मरूंगा और कब पूर्ण, परम आनंद को प्राप्त करूंगा। पवित्र आत्माओं के लिये मृत्यु परम आनंद द्वार है : जिसने एक उद्देश्यहीन जीवन जिया है, पाप-कलुषमय जीवन जिया है, उनके लिये मृत्यु वरदान इसलिये है क्योंकि कुदरत उसे एक उद्देश्यपूर्ण, अर्थपूर्ण जीवन का एक और मौका देती है। जिसने जीवन के कागज पर गलत लकीरें खींच दी हैं, केवल धब्बे-ही-धब्बे लगाए हैं, प्रकृति उसे फिर नए जन्म के बहाने एक अवसर देती है कि तुमने पिछला जीवन तो यों ही गवा दिया, उसका सही उपभोग नहीं किया, मैं तुम्हें फिर

नया अवसर देती हूं—एक उन्नत, सार्थक, उद्देश्यपूर्ण तथा महान जीवन जीने के लिए। और वह मृत्यु के बहाने नया जीवन देती है। इस प्रकार मृत्यु दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिये वरदान है।

संक्षेप में मृत्यु सभी दृष्टियों से जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। ठीक जन्म की तरह ही मृत्यु सुखद है। विज्ञान के अनुसंधान भी इस विचार का समर्थन करते हैं और धर्म भी मृत्यु-दर्शन पर यही विवेचन देता है। इसलिये मृत्यु कष्टप्रद है, भयावह है, यह अवधारणा अपने में काल्पनिक भ्रम के सिवा कुछ भी नहीं है। यह भ्रम टूट जाये तो मृत्यु की अन्तिम घड़ियां भी महोत्सव रूप ले लेती है।

मरें तो कैसे मरें ?

जीना एक कला है तो मरना भी कला है। सच्चाई यह है जिसे मरना नहीं आया, उसे जीना भी नहीं आया। मृत्यु की कला का ज्ञान जीवन के सुख को सौ गुना बढ़ा देता है। इस कला के अभाव में सुखमय जीवन भी अपने अन्तिम समय में महान दुःख बन जाता है। प्रसिद्ध सर्वोदयी विचारक काका कालेलकर ने लिखा—जीवन की कला सिखाने वाले अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, किंतु मृत्यु की कला पर विशद प्रकाश जो जैन-ग्रन्थों में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

भगवान महावीर ने अनशन-पूर्वक समाधि-मरण को प्रशस्त बताया है। उन्होंने मुनि के लिए ही नहीं, गृहस्थ श्रावक के के लिए भी मृत्यु के समय अनशन-व्रत की व्यवस्था दी। श्रावक के लिए सदैव चिंतनीय तीन मनोरथों में अन्तिम है—**कल्याणं अहं अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा-झूसणा-झूसिते भत्तपाण पडियाइक्खित्ते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि**—कब मैं अपश्चिम मारणंतिक संलेखना की आराधना से युक्त

होकर, भक्त पान का परित्याग कर, प्रायोपगमन अनशन स्वीकार कर, मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विहरण करूंगा ? इसका भावार्थ यह है कि जब मृत्यु का समय निकट हो तब साधक परिवार, खान-पान तथा शरीर से मन को हटाकर आत्मस्थ होने का अभ्यास करे।

जीवन के प्रति अनन्त मोह के कारण मृत्यु को सामने खड़ी देखकर भी व्यक्ति जैसे तैसे जीना चाहता है। दवाओं पर दवायें, इन्जेक्शन पर इन्जेक्शन, नाक में नली, पेट में नली, मल-मूत्र द्वार में नली, सारे शरीर को कितनी तरह से बींध दिया जाता है, दुखित पीड़ित किया जाता है। यह जानते हुए भी कि अब जिंदा रहना संभव नहीं, न प्राणी आराम से मरना चाहता है, न उसे आराम से मरने दिया जाता है। भगवान महावीर इसे अज्ञान कहते हैं। यह अज्ञान ही महान दु:ख का कारण होता है।

मृत्यु आनन्द का हेतु तब बन सकती है जब वह आये, उससे पहले ही हम उसे चुनौती दें। शरीर हमको छोड़े, उससे पहले ही हम शरीर को छोड़ दें। जन-परिजन, परिवार हमसे छूटें, उससे पहले ही हम उनको छोड़ दें, इनसे ऊपर उठ जायें, भोजन हमें छोड़े, उससे पहले ही हम भोजन को छोड़ दें। इस तरह उस अन्तिम समय में शरीर, खान-पान, धन, परिजन-स्वजन, इन सबसे ऊपर उठकर आत्मस्थ होना ही महावीर की भाषा में समाधि-मरण है। छूटना दु:ख का कारण होता है, छोड़ना सुख का। छूटने में विवशता है, छोड़ने में स्वेच्छा-पूर्वक स्वीकार। यही इसका रहस्य है।

भगवान महावीर के इस मृत्यु दर्शन को जो न समझ पाए, उन्होंने महावीर को आत्म-हत्या का समर्थक मान लिया। किन्तु यह एक नितान्त मिथ्या धारणा है। भगवान महावीर

ने पर-हत्या के समान ही आत्म-हत्या को पाप माना है। इसलिये उनके अहिंसा-दर्शन में आत्म-हत्या को कोई स्थान नहीं है। इतना अवश्य है कि उन्होंने मृत्यु को एक दुःखान्तिका के रूप में नहीं, किन्तु, महोत्सव के रूप में स्वीकारने का विधान दिया है।

मृत्यु महोत्सव बने

मृत्यु महोत्सव बन जाये, इसके लिये एक लम्बी साधना की अपेक्षा होती है। जीवन में साधना—अभ्यास के बिना अन्तिम समय में आत्मस्थता का भाव जागना असंभव जैसा ही है। गोस्वामीजी कहते हैं—

जनम जनम मुनि जतन कराहिं,
अन्त राम मुख आवत नाहिं।

जन्म जन्मों तक मुनि-जन प्रयत्न करते हैं फिर भी अन्तिम समय में मुख पर राम का नाम नहीं आता। गृहस्थ जीवन के लिये तो यह कठिन है ही, मुनिजन के लिये भी सरल नहीं है। देखा गया है कि गृहस्थों का मन अन्तिम समय में जहां धन-परिवार, बेटे-पोते, मकान आदि में अटका रहता है, वहां साधु-सन्यासियों का आश्रम-ट्रस्ट, चेले-चेलियों में अटका रहता है।

शास्त्रों ने अन्तिम समय की आत्मस्थ-वृत्ति की भारी महिमा गाई है। भगवान महावीर कहते हैं—जल्लेसे मरई, तल्लेसे उपज्जई—प्राणी जिस लेश्या में मरता है, उसी लेश्या में जन्म लेता है। कृष्ण, नील आदि आदि अशुभ लेश्याओं में मरने वाला उन्हीं लेश्याओं में जन्म लेता है। शुभ लेश्याओं से प्राण छोड़ने वाला स्वभावतः ही ऊंची योनियों में शरीर धारण करता है। इसी विचार को श्रीमद्भगवत गीता कहती है—

प्रयाण काले मनसा चलेन
भक्त्या युक्तो योग-बलेन चैव

भ्रुवो मध्ये प्राण मावेश्यसम्यक्
से तं परं पुरुष मुपैति दिव्यम्।

जो मनुष्य मृत्युकाल में अचल मन से, शक्तियुक्त होकर और योगबल से भृकुटी के मध्य में अच्छी तरह से प्राणों को स्थापित करता है, वह उस परम दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है। इस श्लोक से तो यह आशय निकलता है, अगर जीवन के पूर्व भाग में कोई साधना-अभ्यास न भी किया हो—वह व्यक्ति भी इस योग-स्थिति को धारण करके परम पद प्राप्त कर सकता है। किंतु वास्तविकता यह है कि पूर्व साधना-अभ्यास के बिना यह आत्मस्थिति पाना असंभव जैसा ही है। इसी मनःस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं, त्यजत्यन्ते कलेवरम्
तं तमेवैति कौन्तेय, सदा तद्भाव भावितः

कौन्तेय, जिस-जिस भाव का मनुष्य चिंतन सदा करता है, अंतिम समय में उसी समय का ध्यान करता हुआ वह देह छोड़ देता है, जो जीवन-भर मोह-माया में लिप्त रहा हो, उसका मन अंतिम समय में प्रभु-चिंतन में, आत्म-जागृति में लग जाए, यह बहुत कठिन है। देखा यह गया है उस अंतिम घड़ी में मोह-माया में उसका मन और अधिक दिग्मूढ़ बन जाता है। भगवान महावीर फरमाते हैं—

इमं च मे अत्थि इमं च णत्थि
इमं च मे किच्चं मिमं अकिच्चं
तं एवमेवं लालप्पमाणं
हरा हरंतीति कहं पमाए।

यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, अभी मेरे लिए यह करणीय है, यह करणीय नहीं है इस प्रकार विलाप करते हुए मृत्यु उसे ले जाती है। इसलिए तू प्रमाद क्यों कर रहा है?

सेठजी अंतिम समय में मृत्यु से जूझ रहे थे। पुत्र, पत्नी

स्वजन-परिजन, सभी आस-पस इकट्ठे हो गये थे। इतने में पुत्रों ने देखा, सेठजी मुख से कुछ कहना चाहते हैं। पर जबान बंद हो जाने के कारण बोल नहीं पा रहे हैं। पुत्रों के मन में आया, लगता है कोई महत्त्वपूर्ण बात या कोई गड़े हुए खजाने का रहस्य बताना चाहते हों।

डॉक्टर को बुलाया गया। डॉक्टर ने शक्तिशाली इंजेक्शन दिया। सेठजी ने बोलने के लिए मुंह खोला, बड़ा बेटा कहां है? सिरहाने दाईं ओर खड़े बड़े बेटे ने कहा—पिताजी मैं यहां हूं। फिर पूछा—मंझला कहां है? सिरहाने बाईं ओर खड़े बेटे ने कहा—मैं यहां हूं। फिर पूछा—छोटा कहां है? छोटे ने कहा—पिताजी मैं आपके पांवों के पास हूं। तभी सेठजी ने लगभग चीखते हुए कहा—नालायकों, तीनों यहां हो, तो दुकान में कौन है? इतना कहते-कहते सेठजी के प्राण-पखेरू उड़ गए।

यह है चित की मूढ़तापूर्ण स्थिति। इस विमूढ़ता से ऊपर उठने का एक ही उपाय है—प्रारम्भ से ही थोड़ा-थोड़ा साधना-अभ्यास रखा जाय। इस निरन्तर साधना से ही मृत्यु के समय व्यक्ति अनशनपूर्ण समाधि-मरण को प्राप्त हो सकता है, अपने चित्त को भगवत्-चिंतन में स्थापित कर सकता है। आत्मस्थ चित्त की गति सदा ऊर्ध्वगामी होती है, इसमें संदेह नहीं है। यह मरण की वह भूमिका है जिसमें व्यक्ति मृत्यु से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है। कबीरजी के शब्दों में—

मरिए तो मर जाइए, टूटि परै जंजाल,
ऐसा मरना को मरै, दिन में सौ-सौ बार।

हम मरें तो ऐसा मरें कि यह जन्म-मरण का सारा जंजाल खत्म हो जाये। वह मरना भी क्या मरना है, जहां व्यक्ति दिन में सौ-सौ बार मरता हो।

मरना वह है जो हमें मृत्यु से सदा के लिए मुक्त कर दे। जिसके बाद न हमारा जन्म हो, न मृत्यु हो। किन्तु वैसा मरना हम सीखें तो सही।

मृत्यु का भय क्यों ?

प्रश्न होता है कि जब मृत्यु सुखद है तो आदमी के मन में मृत्यु का भय क्यों होता है, असहाय और निर्बल अवस्था में भी मरने से क्यों घबराता है? इसका प्रमुख कारण मृत्यु के सम्बन्ध में हमारे मन में जगी हुई अवधारणा ही है। हमारे अवचेतन मन में यह अवधारणा जमी होती है कि मृत्यु के समय मनुष्य को महान् पीड़ाओं में से गुजरना पड़ता है। जब शरीर में से आत्म प्रदेश बाहर निकलते हैं, तब उसे एक महान् भयंकर वेदना का अनुभव होता है। शास्त्रों में भी कहा गया है कि **मरण-समा वेयणा णत्थि**— मृत्यु के समान कोई वेदना नहीं है। जब आदमी किसी अति भीषण कष्ट में से गुजरा हो तो उसके मुख से यही निकलता है कि मरण वेदना में से निकल कर आया हूं। मृत्यु के प्रति यह अवधारणा ही उस मृत्यु वेदना का प्रमुख कारण होता है।

जीवन के प्रति अनन्त मोह

मृत्यु भय का दूसरा बड़ा कारण है, जीवन के प्रति अनन्त मोह। भगवान महावीर प्राणी जीवन का विश्लेषण देते हुए कहते हैं— **सव्वे पाणा पियाउया**—सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय होता है। सब जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। चींटी से लेकर हाथी और मनुष्य तक, सब जीवन से चिपके हुए दिखाई देते हैं। वृद्ध से वृद्ध और रोगी से रोगी व्यक्ति के मन में भी, मृत्यु के समय जीवन के लिए एक तीव्र

छटपटाहट देखी जा सकती है। महावीर इसी छटपटाहट को 'अणन्त मोहे' अनन्त मोह की संज्ञा देते हैं।

आज के मनोविज्ञान में जीने की इस तीव्र अभिलाषा को 'जिजीविषा'—न मरने की इच्छा को, मनुष्य की बुनियादी अन्तः-प्रेरणाओं में गिना जाता है। प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता एरिक वर्न्स मनुष्य के तीन मूलभूत विश्वासों में प्रथम इसी अन्तः प्रेरणा को मानते हैं—Belief in the immorrality of the self अपने अस्तित्व की अमरता में विश्वास। यह विश्वास होना कि या तो मैं मरूं ही नहीं या फिर मर कर भी मैं न मरूं—अमर बन जाऊं। मरने की अनिवार्य घड़ी सामने देख कर भी मृत्यु से डरना उसी जिजीविषा की झलक है। मरने के बाद भी न मरने, जिन्दा रहने की ललक का ही उदाहरण है—स्मारक खड़े करवाना, स्तूप बनवाना, अपने नाम से दान, पुरस्कार, सेवा आदि कार्यों का संचालन करना। इतना ही नहीं, अमरता के इसी प्रयत्न में वह मृत शरीर को भी पुनर्जीवित करने की कोशिश करता है। अमेरिका में आज भी दसों मृत शरीरों को पुनः जिलाए जाने की कोशिश में सुरक्षित रखा जा रहा है। ये उन कुबेर-पतियों के मृत शरीर हैं जो पुनर्जीवन पाने की अभिलाषा मे अपने पीछे करोड़ों, अरबों की धनराशि वसीयत में छोड़ गए हैं। कहते हैं कि उन मुर्दा शरीरों के रखरखाव एवं पुनः जिलाने के लिए विज्ञान जो प्रयोग कर रहा है, उस पर प्रतिदिन लाखों डालर खर्च हो जाते हैं। शरीर के प्रति मोह की तरह परिवार का मोह भी मृत्यु-भय का बड़ा कारण है। परिवार शरीर का ही विस्तार होता है। इसीलिए शरीर की तरह अपनी सन्तान के प्रति भी तीव्र मोह जुड़ जाता है। वह मोह इतना अनन्त-अनुबन्ध लिए होता है कि बहुत बार व्यक्ति अपने को मृत्यु-मुख में डाल कर भी सन्तान को बचाना चाहता है।

परिवार की तरह धन-वैभव का छूट जाना भी मृत्यु-दुःख का बड़ा कारण है। सम्पत्ति-वैभव को छूटते देख कर वह मन ही मन कातर हो उठता है। उस कातरता-मूढ़ता के कारण न वह शान्ति से जी सकता है, न शान्ति से मर सकता है।

जो दौलत के जितना करीब होता है,
वह भीतर से उतना ही गरीब होता है
तरतीब तो होती ही नहीं जिन्दगी उसकी
उसका मरण भी बेतरतीब होता है,

अज्ञात के प्रति आशंका

मृत्यु-भय का एक कारण अज्ञात के प्रति आशंका भी है। कहां जाऊंगा ? मेरा क्या होगा ? किन प्राणियों के बीच मुझे रहना होगा ? वे लोग कौन होंगे ? कैसे होंगे ? अज्ञात के प्रति ये आशंकाएं भी मृत्यु भय का बड़ा कारण होती हैं। इसके साथ इस जीवन में जो भी पाप-कुकर्म किए हैं, उनके फल-परिणाम की चिन्ता से भी मन भय से सिहर जाता है। उन पाप-दुष्कर्मों को इस जीवन में, चाहे दूसरों से उसने छुपा भी लिया हो, किन्तु मृत्यु के समय वे सब पाप आंखों के आगे आते हैं। उनके परिणाम की कल्पना से ही मन भयभीत हो उठता है।

मृत्यु एक अनिवार्य घटना

ये ही कुछ कारण हैं कि मनुष्य मृत्यु से भय खाता है जबकि हम अच्छी तरह से जानते हैं कि मृत्यु एक अनिवार्य घटना है। उसको किसी भी स्थिति में टाला नहीं जा सकता। न कोई औषध आदमी को मौत से बचा सकती है, और न कोई अन्तरिक्ष यान में बैठकर मौत से दूर भागा जा सकता है। दूर भागना तो एक ओर, मौत आने पर ये ही साधन उसके सहयोगी बन जाते हैं।

यूनान की एक लोक-कथा है। ग्रीक का राजकुमार नगर

के राज-मार्ग पर घूम रहा था। अचानक उसने मौत को अपनी ओर घूरते देखा कि मौत उसकी ओर उंगली से इशारा कर रही थी। वह ऊपर से नीचे तक बुरी तरह कांप गया। उल्टे पांव दौड़ कर वह राज महलों में आया और उसने पिताजी से सारी व्यथा-कथा सुनाई।

पिता भी चिंतित हुए। उन्होंने अपने मित्र इन्द्र को बुलाया। अपनी चिंता बताते हुए उसने इन्द्र से सहायता मांगी। इन्द्र ने कहा—एक बार मैं राजकुमार के जीवन की सुरक्षा व्यवस्था तुरंत कर देता हूं। ताकि जब तक मैं धर्मराज से न मिल लूं, तब तक यम के हाथ राजकुमार तक न पहुंच सकें। फिर धर्मराज से राजकुमार को जीवन-दान दिलवाने की कोशिश करूंगा।

इन्द्र ने राजकुमार को गरुड़ की पीठ पर बैठाया। वायुवेग से उड़ते हुए गरुड़ ने राजकुमार को कुछ ही क्षणों में वहां से हजारों कोसों दूर काकेशस की पहाड़ियों में पहुंचा दिया। अब इन्द्र निश्चिन्त था कि राजकुमार की खोज में एक बार तो यमराज भी धोखा खा जाएगा। तब तक मैं अपना काम कर लूंगा। दूसरे दिन इन्द्र धर्मराज से मिले। इन्द्र कुछ बोले, इससे पहले ही धर्मराज ने कहा—आपने मेरा काम आसान कर दिया—इसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। ग्रीक के राजकुमार की मृत्यु काकेशस की पहाड़ियों में होनी थी, पर यमराज उसे लेने गया, तो वह यूनान में था। इसलिए उसे खाली हाथों वापस लौटना पड़ा। तभी आप वहां पहुंचे। आपने राजकुमार को काकेशस की पहाड़ियों में पहुंचा दिया, हमारी उलझन का हल निकल गया।

अब इन्द्र को समझ में आया कि यमराज राजकुमार की ओर अंगुली से इशारा क्यों कर रहा था? और इन्द्र ने यह भी जाना कि जीवन की सुरक्षा के प्रयत्न में उसने अनजाने ही मृत्यु को किस तरह साथ दे दिया है। सारांश यह है कि मौत

को न टाला जा सकता है, न धोखा दिया जा सकता है—और न ही उससे बचा जा सकता है, गीता के शब्दों में— जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च। जो जन्मा है उसकी मृत्यु निश्चित है। जो मर गया है उसका जन्म निश्चित है। जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। जन्म लेने के ७० वर्ष बाद, ७५ वर्ष बाद अथवा ८०-८५ वर्ष बाद मृत्यु होती है, ऐसा बिल्कुल नहीं है। मृत्यु तो हर सांस के साथ जुड़ी हुई है। हर सांस में हमें मृत्यु नजदीक ले जाती है। यह बात अलग है, कि हम घटनाओं के स्थूलाकार को देखने के आदी होते हैं। इसलिए प्रतिक्षण घटित होने वाली मृत्यु को देखने वाली आंखें बहुत कम हैं। उस घड़ी को हमें देखना पड़ता है, या फिर हमारे देखने से उस घटना के घटित होने में कोई अन्तर नहीं, इसलिए हमें स्वीकारना हमारी नियति है, मजबूरी है। अगर ऐसा न होता तो मौत को स्वीकारने का प्रश्न ही नहीं उठता।

मृत्यु क्या है ?

प्रश्न होता है कि मृत्यु क्या है ? जब हृदय की धड़कन बन्द हो जाए, नाड़ी का गति-संचार बन्द हो जाए, श्वास का आना-जाना बन्द हो जाए, मस्तिष्क की क्रियाएं ठप्प हो जाएं, साधारणतया हम उसे मृत्यु कहते हैं। किन्तु मृत्यु के ये बाहरी कारण हैं। मृत्यु का असली कारण है चेतना की अर्थविधि के संचालन में शरीर का असमर्थ होना। श्रीमद्भगवत गीता में कहा गया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।

जैसे वस्त्र जीर्ण हो जाने पर मनुष्य नए कपड़े धारण

करता है, वैसे ही शरीर के जीर्ण होने पर आत्मा नए शरीर को धारण करती है।

शरीर तो मशीन है। जब तक मशीन ठीक ढंग से काम करती है, मालिक उसे काम में लेता है। मशीन बिगड़ जाने पर उसे मिस्त्री से ठीक करवाता है। किन्तु जब वह ठीक नहीं हो पाती है, तब दूसरी मशीन वह ले आता है, ठीक इसी प्रकार जब यह शरीर आत्मा के लिए अक्षम हो जाता है, आत्मा उसे छोड़ कर नया शरीर धारण कर लेती है। यही है जन्म-मरण का कार्य-कारण-भाव। इसमें न रहस्य जैसा कुछ है और न है भय आने जैसा भी कुछ।

मैं समझ नहीं पाया हूं अब तक यह रहस्य,
दुनिया मरने से यों क्यों घबराती है,
क्यों मरघट का सूनापन चीखा करता है,
जब माटी माटी से निज ब्याह रचाती है,
फिर माटी तो मिटती भी नहीं कभी भाई,
यह सिर्फ शक्ल की चोली बदला करती है
संगीत नहीं बदला करता है सरगम का,
केवल गायक की बोली बदला करती है।

मृत्यु से मरता कुछ नहीं है। आत्मा तो अमर है। इसलिए इसके मरने का तो कोई सवाल ही नहीं। शरीर माटी का है, वह माटी में मिल जाता है। मिटने जैसा यहां कुछ भी नहीं है। नए जन्म में वह सिर्फ नई शाल धारण कर लेता है। इस प्रकार न आत्मा मरती है, न शरीर मरता है। आत्मा का स्थूल शरीर के साथ संयोग होना जन्म है, वियोग होना मृत्यु है। आत्मा जब शरीर को छोड़ देती है, तब हृदय की धड़कन बन्द होना, श्वास का रुक जाना आदि शारीरिक क्रियाओं का बन्द हो जाना तो स्वाभाविक ही है।

कहां महावीर का विराट् दर्शन, कहां हमारा बौना चिंतन !

भगवान महावीर के जन्म-जयन्ती समारोह का भव्य आयोजन। हजारों नर-नारियों से खचाखच भरा विशाल प्रवचन मंडप। विशाल मंच पर एक ओर आसीन हैं प्रान्त के राज्यपाल महोदय, अनेक मंत्री-गण तथा जैन समाज के प्रमुख अग्रणी नेतागण। दूसरी ओर तीन तख्त बिछे हैं। दो तख्त मुनि-समुदाय के लिए तथा एक, साध्वी समुदाय के लिए। तीनों ही समुदाय जैन परंपरा के तीन धाराओं के प्रतिनिधि हैं। साध्वी समुदाय अपना आसन ग्रहण कर लेती हैं। हम भी एक तख्त पर आसीन हो जाते हैं। अभी एक परंपरा के मुनि-समुदाय का आगमन नहीं हुआ हैं।

कार्यक्रम में विलम्ब हो रहा है। मुनि-समुदाय का पदार्पण अभी भी नहीं हुआ है। अचानक एक हलचल होती है। कुछ श्रावक पीछे से मंच पर आते हैं। समानान्तर बिछे उस तख्त को वहां से हटा लेते हैं। मैं मन ही मन सोचता हूं, मुनि-गण का आगमन स्थगित हो गया लगता है। खाली तख्त मंच पर अच्छा नहीं लगता, शायद इसलिए उसे हटा लिया गया है।

इतने में देखता हूं कि उसी स्थान पर उस तख्त से अधिक ऊंचा, अधिक लम्बा-चौड़ा एक तख्त बिछा दिया गया है। अब

पिछले तख्त को हटाने का रहस्य भी समझ में आ जाता है। मुनि-समुदाय मंच के पीछे खड़ा है। इस बीच मंच पर बैठे समाज के अग्रणी नेताओं में फुसफुसाहट होती है। तख्तों की असमानता को लेकर विरोध होता है। स्थिति को बिगड़ते देखकर वह ऊंचा तख्त वहां से हटा लिया जाता है, फिर वही पुराना तख्त वहां पर बिछा दिया जाता है।

मंच पर मुनि-समुदाय का पदार्पण होता है। जोर से जय-जय के नारे लगते हैं। मुनि-समुदाय के साथ भक्तगण भी हैं। भक्तों के हाथों में चतुराई से छुपाई हुई छोटी-छोटी चौकियां हैं। मुनि-समुदाय ज्योंही उस तख्त के समीप पहुंचता है वे चौकियां अत्यन्त शीघ्रता से तख्त पर बिछा दी जाती हैं। अब उस मुनि समुदाय का आसन हमारे तख्त से चार अंगुल ऊंचा हो जाता है। मुनि-समुदाय अविलम्ब उस पर विराजमान हो जाता है। भक्त लोग फिर जोर से एक बार जय का नारा लगा देते हैं। यह सब कुछ पलक झपकते ही हो जाता है। सब कोई देखते ही रह जाते हैं। मुनि-समुदाय की विजय-दर्प मुद्रा को सहज ही पढ़ा जा सकता है।

दूसरे संप्रदायों के समाज का मन इससे आहत होता है। जिस संप्रदाय से मेरा सम्बन्ध था, उससे संबद्ध श्रावक मेरे पास आते हैं। वे रोषपूर्ण स्वरों में मुझसे कहते हैं—यह सब कुछ बहुत गलत हो रहा है। ये लोग, जिनके हाथों में आज के समारोह का मंच है, अपनी परंपरा के मुनियों को ऊंचे पट्ट पर बिठाना चाहते थे, इसलिए बीच में ऊंचा तख्त लाया गया। हमारे विरोध पर उसे हटा लिया गया। अब इस तख्त पर ये चौकियां बिछा दी गई हैं। हम यह सहन नहीं कर सकते। इसके लिय हमें भी कुछ करना होगा।

उनकी बातों पर मन-ही-मन हंसते हुए मैंने पूछा—आप ही

बताएं अब क्या किया जाए। उन्होंने कहा—हमने कुछ और चौकियां मंगवा ली हैं। आप भी अपने तख्त पर उन चौकियों को बिछा लें। मैंने दृढ़ता से उन्हें समझाया—इस सारे नाटक को अब खत्म होने दें। अब तक भी बहुत हो लिया है। मंच पर प्रान्त के संभ्रान्त सम्माननीय नागरिक हैं। मंच के सामने हजारों की जन-मेदिनी है। भगवान महावीर की जन्म-जयंती का समारोह है। भगवान का प्रमुख संदेश वीतरागता का है। हम उनके ही प्रतिनिधि मुनि-गण तख्त की ऊंचाई-नीचाई की गणित में उलझकर राग-द्वेष खड़ा करें, इससे अधिक बुरी बात और क्या होगी। आप शांतिपूर्वक अपना आसन ग्रहण कर लें। कम-से-कम मैं तो इस नाटक में शरीक ही नहीं होने वाला हूं।

मेरे इस दो-टूक उत्तर से श्रावक मौन तथा निराश चले गए। उनके चेहरों पर उनका भीतरी असंतोष साफ झलक रहा था। इस घटना से वे अपने संप्रदाय की हेठी समझ रहे थे, समाज का अपमान समझ रहे थे। अपने को आहत महसूस कर रहे थे।

एक रुग्ण मानसिकता

सवाल केवल इस एक घटना का नहीं है, एक संप्रदाय की मानसिकता का भी नहीं है। अलग-अलग चेहरे लिए ऐसी घटनाओं का एक लम्बा सिलसिला मेरे सामने है। हर घटना की अपनी प्रतिक्रिया होती है। हर प्रतिक्रिया फिर एक नई घटना को जन्म देती है। और क्रिया-प्रतिक्रिया का यह अंतहीन सिलसिला कभी भी खतम होता नजर नहीं आता है। हर संप्रदाय एक मानसिक रुग्णता का शिकार है, अपने को ऊंचा तथा औरों को छोटा मानने की मनो-ग्रन्थि का शिकार है। हर परंपरा अपने को भगवान महावीर का सच्चा प्रतिनिधि

समझती हैं। हर आचार्य अपने को भगवान महावीर का सच्चा उत्तराधिकारी मानता है। हर आम्नाय अपने को भगवान महावीर के चिंतन-दर्शन का तथागत संस्करण मानती हैं। स्वयं है असली, और सब हैं नकली। स्वयं है सम्यक्त्वी, शेष सारे मिथ्यात्वी। फिर एक सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी के साथ एक मंच पर कैसे बठ सकता है। बैठना पड़े तो उसका आसन मिथ्यात्वी के बराबर कैसे हो सकता है। चाहे चार अंगुल ही सही, अपना आसन औरों से ऊंचा तो होना ही चाहिए। यही नहीं, दो परम्पराओं के मुनि-गण जब आपस में मिलते हैं, तो परस्पर अभिवादन जैसा शिष्ट व्यवहार भी नहीं होता, केवल अपने हाथ मटकाकर रह जाते हैं। अभिवादन करने से उनकी वीत-रागमयी साधना शायद खंडित हो जाती है। परस्पर आहार पानी के आदान-प्रदान की तो कल्पना भी असंभव है। स्थानक, उपाश्रय तथा समाज के भवन भी दूसरे संप्रदाय के साधु-साध्वियों के उपयोग में नहीं आ सकते है। स्थिति तो यहां तक देखने को मिलती है कि श्वेताम्बर धर्मशाला दिगम्बर श्रावकों के तथा दिगम्बर धर्मशाला श्वेताम्बर श्रावकों के ठहरने के लिए काम में नहीं आ सकती। ऐसा कई तीर्थ-क्षेत्रों में देखा जा सकता है।

वस्तुतः ये सारे अव्यवहार्य व्यवहार एक संप्रदाय-ग्रस्त मानसिकता की उपज हैं। सर्वत्र अपने को श्रेष्ठ तथा दूसरों को हीन मानने का भ्रम पल रहा है। आज के वैज्ञानिक वातावरण में पला तथा आधुनिक चिंतन के मुहावरों में ढला मुनि जब अपने धर्म को संप्रदाय-ग्रस्त तथा रुग्ण मानसिकता से त्रस्त नेताओं के हाथ में देखता है, तो उसका मन गहरी पीड़ा से भर जाए, यह स्वाभाविक है। कहां भगवान महावीर का विराट् दर्शन और कहां हमारा बौना चिन्तन। दोनों में कहीं कोई समानता भी है? कहीं तुलना भी है?

दुहाई सिद्धान्तों की, कमाई अहं-तृप्ति की

हर संप्रदाय अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए ऊंचे-ऊंचे सिद्धान्तों की दुहाई देता है। जबकि उन सिद्धान्तों की दुहाई के नेपथ्य में अधिकांशतः अपनी अहं-तृप्ति की कमाई ही दिखाई देती है। अगर ऐसा नहीं होता; तो अनेकान्त दर्शन के आलोक में संप्रदायों के छोटे-छोटे भेद आज तक क्यों नहीं सुलझा लिए गए। दिगम्बरत्व को एक महान् तप मानने में श्वेताम्बर-परम्परा को आपत्ति क्यों होनी चाहिए। शरीर-मूर्छा से उपरत यदि हुआ जा सकता है, तो लोकाचार-निर्वाह के लिए धारण किए जाने वाले वस्त्रों के ममत्व से मुक्त होने के स्वीकार में दिगम्बर परम्परा को कोई अड़चन क्यों होनी चाहिए? प्रतिमा की भाव-शुद्धि का एक सशक्त आलम्बन हो सकती है, उसके स्वीकार में स्थानकवासी तेरापंथी परम्परा को क्या बाधा हो सकती है? मुनि के निमित्त बनने वाले स्थानक तथा दया-दान की व्याख्या को लेकर जिसका जन्म हुआ, आज उसी तेरापंथ में शब्दान्तर और भाषान्तर से उससे ज्यादा ही हो रहा है, उस स्थिति में दोनों परम्पराएं एक-दूसरे के बीच दूरी क्यों रखना चाहती हैं? केवल इसलिए कि सबके अपने-अपने अहंकार इन भेदों से ही तृप्त हो सकते हैं। हमें भगवान महावीर के अनेकान्त-दर्शन की अपेक्षा, अपने-अपने सांप्रदायिक चिंतन अधिक प्रियकर हैं—

सबके अपने अहं हैं,
महावीर के लिए कोई प्यार नहीं है,
कोई भी अपने
भाषणों के प्रति ईमानदार नहीं है,
मर मिटने को सब
तैयार हैं अपनी संप्रदायों के लिए,

लेकिन महावीर के लिए
मरने को कोई तैयार नहीं है,

सचाई यह है भगवान महावीर भी हमारे लिए दोयम हैं, पहला स्थान है अपने-अपने संप्रदायों का। महावीर का स्वीकार भी तभी है, जब वे हमारे संप्रदाय की चौखट में फिट होते हों।

संप्रदाय पहले, महावीर बाद में

भगवान महावीर के पच्चीसवें निर्वाण-शताब्दी समारोह के समय मेरा चतुर्मास राजगृही पावापुरी में था। साम्प्रदायिक सद्भावना का वह एक अप्रतिम अवसर था। एक बार वहां जैन समाज के बीच अनौपचारिक चर्चा चल रही थी। मैंने एक प्रश्न उछाला—हम लोग भगवान महावीर से रोज भाव-भरी प्रार्थना करते हैं—भगवन्, कृपा करके दर्शन दिराएं। भटकते हुए प्राणियों को सही रास्ता दिखाएं। भगवान तो निर्वाण को उपलब्ध हो गये हैं। इसलिए उनका वापस संसार में आने का प्रश्न ही नहीं है। किन्तु हमारी मानसिकता की असली तस्वीर सामने लाने के लिए मैं आपसे पूछना चाहता हूं हमारी प्रार्थना पर करुणा करके भगवान महावीर अगर हमारे बीच पधार जाएं, तो क्या हम उन्हें स्वीकार कर लेंगे? लोगों को प्रश्न जरा अटपटा लगा। बोले—मुनिश्री, इसमें पूछने जैसा क्या है? अगर भगवान इतनी कृपा कर दें, तो हम उन्हें अपनी आंखों पर बिठा लें। मैंने कहा—मुझे इसमें संशय है। क्या हम उनके सामने भी दिगम्बर-श्वेताम्बर का प्रश्न नहीं उठाएंगे, कि आप दिगम्बर हैं या श्वेताम्बर? एक भाई तुरन्त बोल उठा—यह तो पूछना पड़ेगा ही। मैंने कहा—अगर वे कह देते हैं, मैं दिगम्बर हूं, तो क्या श्वेताम्बर पीछे नहीं हट जाएंगे? वे अपने को श्वेताम्बर कह देते हैं, तो क्या दिगम्बर उन्हें अस्वीकार नहीं कर देंगे? उन्हें नकली महावीर करार नहीं

देंगे ? छोड़ें दिगम्बर-समाज को, सारे श्वेताम्बर भी उन्हें क्या मान लेंगे। क्या वहां भी मूर्ति-पूजा का सवाल नहीं उठेगा ? मूर्ति-पूजा स्वीकार करने पर क्या स्थानकवासी-तेरापंथी तथा स्वीकार न करने पर मूर्ति-पूजक परम्परा उन्हें पीठ नहीं दिखा देगी ? ठीक इसी तरह स्थानकवासी तथा तेरापंथी भी अपनी-अपनी मान्यताओं के बारे में क्या सवाल नहीं उठाएंगे ? और अपनी मान्यताओं से मेल न खाने पर फिर क्या उन्हें स्वीकार करेंगे ?

मेरे इस प्रश्न-विश्लेषण पर सारा समाज मौन निरुत्तर था। मैंने कहा—हमारी विडम्बना यही है कि महावीर के शिष्य कहलाते हुए भी हम महावीर को महावीर के रूप में स्वीकारने को तैयार नहीं हैं। हमारे संप्रदाय की मान्यताओं की चौखट में अगर महावीर आते हैं, तब तो हमें वे स्वीकार हैं, नहीं तो नहीं, यह है हमारी मानसिकता। इस मानसिकता में परिवर्तन तभी सम्भव है जब हम अपने पंथ और मतवाद के आग्रहों से ऊपर उठकर तटस्थता से सोचने के लिए साव-काश हों। संप्रदाय आग्रह की नींव पर खड़े होते हैं। मुझे एक बार एक जैनेतर भाई ने पूछा—दिगम्बर-श्वेताम्बर में मुख भेद क्या है ? वे साहित्य-चेता थे। इसलिए मैंने कविता की भाषा में कहा—

अपने पंथ-मताग्रह से जब हमने नाता जोड़ लिया
महावीर की वाणी से सचमुच ही मुखड़ा मोड़ लिया
मुख्य भेद है यही दिगम्बर-श्वेताम्बर में, यों समझें,
किसी ने कपड़ा ओढ़ लिया और किसी ने कपड़ा
छोड़ दिया।

अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा हो

काश ! इन मतवादों के आग्रहों से हम मुक्त हो पाते।

अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा अपने घर में तो कर पाते। दर्शन-जगत के शैल-शिखर पर आरूढ़ होकर भगवान महावीर ने जिस अनेकान्तवाद की उद्घोषणा की, हम चाहते हैं उस उद्घोषणा को पूरा विश्व सुने, जाने और लाभ उठाए। किन्तु उस उद्घोषणा को सुनने की हमारी तैयारी बिल्कुल नहीं है। खेद यही है हम औरों को सुनाना चाहते हैं, खुद सुनना नहीं चाहते।

एक रथ-यात्रा जुलूस में लोगों में जोश भरा जा रहा था कि इतने जोर से जय-जयकार के नारे लगाए जाएं, कि सिद्ध-शिला पर विराजमान भगवान महावीर तक हमारी आवाज पहुंच जाए। मैंने उस प्रवचन-सभा में कहा—गगनभेदी नारों से आपने अपनी आवाज तो भगवान महावीर तक पहुंचा ही दी है, अब जरा यह कोशिश करें कि वह आवाज आपके भीतर तक भी पहुच जाए। बड़ा आसान है औरों तक आवाज पहुचाना। बड़ा ही कठिन है अपनी आवाज अपने तक पहुचाना।

भगवान फरमाते हैं—जहां सत्य है वहां आग्रह नही है। जहां आग्रह है वहां सत्य नहीं है। अब हमें सोचना है कि हम आराधना सत्य की कर रहे हैं या आग्रह की, धर्म की कर रहे हैं या सम्प्रदाय की। मेरा निवेदन है राग-द्वेष की बदबूदार नालियों पर बिछे मतवाद और संप्रदायवाद के कीमती गलीचों का मोह छोड़ें, और हम अपने को वीतराग-धर्म से जोड़ें। यही भगवान महावीर द्वारा प्रणीत साधना है और यही धर्म की सच्ची प्रभावना है।

लब्धियों के क्षीर-सागर गणधर गौतम

प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम। चौदह पूर्वों के अतल श्रुत-सागर के पारगामी गौतम! भगवान महावीर के कैवल्य-हिमालय से निःसृत अमृत-वाणी गंगा को धारण करने वाले भागीरथ गौतम! विनय और समर्पण के उज्जवल-समुन्नत शैल-शिखर गौतम! तीर्थंकर पार्श्वनाथ और तीर्थंकर महावीर की गंगा-यमुना-धारा के प्रयागराज गौतम! अद्भुत लब्धि-चमत्कारों के क्षीर-सागर गौतम!

गौतम का व्यक्तित्व अनन्त है। जैन-शासन को गौतम का अवदान अनन्त है। और अनन्त है सम्पूर्ण मानव जाति को गौतम का सम्प्रदायातीत ज्योर्तिमय अवदान। गौतम के आलेख के बिना भगवान महावीर की धर्म-तीर्थ परवर्तन की ज्योति-यात्रा का इतिहास अधूरा है। गौतम के उल्लेख के बिना अनन्त श्रुत-संपदा पर भगवान महावीर के हस्ताक्षर भी अधूरे हैं।

अनन्त-चक्षु भगवान महावीर के प्रथम शिष्य हैं इन्द्रभूति गौतम। इसलिए गौतम महावीर की तीर्थ-परम्परा के सूत्रधार भी हैं। किन्तु जैन-परम्परा महावीर से पहले भी है। आगमों में स्पष्ट उल्लेख है कि महावीर के माता-पिता तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रावक थे। महावीर के युग में भगवान पार्श्वनाथ के प्रतिनिधि ज्योतिर्धर आचार्य विद्यमान थे। भगवान महावीर और तथागत बुद्ध के शिष्यों के साथ

पार्श्वनाथीय परम्परा के मुनियों के अनेक मिलन-प्रसंग जैन तथा बौद्ध वांङ्मय में मिलते हैं। इन सबसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि महावीर के समय भगवान पार्श्वनाथ की शिष्य-संपदा समृद्ध तथा अपने में वर्चस्वशील स्वरूप धारण किए थी।

इसके साथ-साथ यह भी परंपरा-सम्मत तथ्य है कि भगवान महावीर भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित नहीं हुए। इसका भी कारण है। क्योंकि तीर्थंकर स्वयं संबद्ध होते हैं, आत्मदीक्षित होते हैं। तीर्थंकर कभी किसी परम्परा में दीक्षित नहीं होते हैं। महावीर भी स्वयं सम्बद्ध हैं, आत्म-दीक्षित हैं। केवल ज्ञान के अनन्तर भगवान ने धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। हजारों साधु-साध्वियों तथा लाखों श्रावक-श्राविकाओं ने महावीर के तीर्थ में प्रवेश किया। थोड़ ही समय में भगवान महावीर के धर्म-संघ ने भी समर्थ समृद्ध तथा वर्चस्वशील स्वरूप धारण कर लिया।

उस समय सबसे बड़ा प्रश्न था दो समर्थ, समृद्ध परंपराएं एक धारा में कैसे जुड़े? भगवान पार्श्वनाथ के समय को अभी २५० वर्ष ही हुए थे। फिर श्रमण केशीकुमार जैसे अवधि-ज्ञान सम्पन्न विद्याचरण के पारगामी—**ओहि नाण सुएबुद्धे, विज्जाचरण पारगे**—आचार्य उस परम्परा का समर्थ प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इधर भगवान महावीर के तेजोमय नेतृत्व में तेजी से ऊपर उठता हुआ नवोदित धर्म-संघ था। उस स्थिति में एक परंपरा का दूसरे परम्परा से जुड़कर एकता-बद्ध होना आश्चर्य ही माना जाएगा। यद्यपि ये दो धाराओं का संगम था, किन्तु संगम में अपनी स्वतन्त्र पहचान का उत्सर्ग होता ही है। और इस आश्चर्यपूर्ण संगम का बहुत कुछ श्रेय गणधर इन्द्रभूति को ही कहा जाता है।

केशी-गौतम संवाद

श्रावस्ती का प्रसंग है। श्रमण केशीकुमार अपने शिष्य

समुदाय के साथ निन्दुक नामक उद्यान में पधारे। उसी समय गणधर इन्द्रभूति गौतम भी अपने शिष्य समुदाय के साथ श्रावस्ती आए और कोष्ठक नामक उद्यान में विराजमान हुए, श्रमण केशीकुमार और गणधर गौतम के शिष्य-गण आते-जाते परस्पर एक दूसरे को देखते और इस तरह के प्रश्न उनके मनों में उठते—

केरिसो व इमो धम्मो, इम्मो धम्मो व केरिसो,
आयार-धम्म-पणिही, इमा व सा व केरिसी।

यह धर्म कैसा है और वह धर्म कैसा है? यह आचार-प्रणिधि कैसी है और वह आचार प्रणिधि कैसी है? दोनों श्रमण-श्रेष्ठों ने शिष्यों के प्रश्नाकुल चेहरों को देखा, शंका-कुल मनों को पढ़ा और परस्पर-समागम का निर्णय लिया।

अह ते तत्थ सीसाणं, विन्नाय पवितक्कियं,
समागमे कयमई, उभयो केसिगोयमा।

श्रमण केशीकुमार पार्श्व-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। पार्श्वनाथ का श्रमण-परिवार श्रेष्ठ कुल है। इसे ध्यान में रखते हुए गणधर गौतम अपने शिष्य-परिवार के साथ वहां आते हैं, जहां श्रमण केशी विराजमान हैं। श्रमण केशी गौतम के सम्मुख आते हैं, इनका स्वागत करते हैं, समान रूप से आसन प्रदान करते हैं। शास्त्रकार कहते हैं, दोनों महाशय/महाभाग वहां विराजमान ऐसे सुशोभित हो रहे हैं, जैसे कि चन्द्र और सूर्य विराजमान हों।

परिषद में दोनों परम्पराओं के श्रमण-गण तथा श्रावक-गण तो उपस्थित हैं ही, इतर धर्मावलम्बी समाज भी बड़ी संख्या में उपस्थित हैं। शास्त्रकार के शब्दों में—**देव-दाणव, गंधव्वा, जक्ख, रक्खस किन्नरा, अदिस्साणं च भूयाणं आसी तत्थ समागमो'** उस परिषद में देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष,

राक्षस और किन्नर भी अदृश्य रूप से उपस्थित हैं। सबके मनों में जिज्ञासा है, कुतूहल है, तरह-तरह की अटकलबाजियां हैं।

श्रमण केशीकुमार ने गौतम गणधर से पूछा—

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो-इम्मो पंचसिक्खिओ
देसिओ बद्धमाणेण, पासेण य महामुणी।
एक कज्ज पवन्नणं, विसेसे किं नु कारणं?
धम्मे दुविहे मेहावि, कहं विप्पच्चओ न ते?

भगवान पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अदत्तादान और बहिर्द्धादान, इस चतुर्यामात्मक धर्म की व्यवस्था दी। भगवान महावीर ने अहिंसा, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह पांच-महाव्रतात्मक धर्म-व्यवस्था दी। एक ही उद्देश्य के लिए प्रपन्न साधना में यह विभेद क्यों? इन दो प्रकार की धम-साधनाओं को देखकर तुम्हारे मन में किसी प्रकार का संशय नहीं होता?

गणधर गौतम ने बड़ा विवेक-संगत उत्तर देते हुए कहा—**पन्ना समिक्खए धम्मं**—धर्म की समीक्षा प्रज्ञा से होती है। इसके अलावा सारा व्यवहार है। ये धर्म के दो प्रकार नहीं, साधना-व्यवस्था के दो प्रकार हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के समय ही पंच महाव्रतात्मक की साधना व्यवस्था विधान है। इसका प्रमुख कारण उस-उस युग के व्यक्तियों की चित्त दशा है। भगवान ऋषभदेव का युग ऋजु-जड़ है। इतना सरल है उस युग का चित्त, जितना उसे बताया जाये, वह उतना सा ही ग्रहण करता है। अर्थ भी वह शब्दात्मक ही ग्रहण करता है, भावात्मक नहीं। अतः उन्हें साधना की व्यवस्था विस्तारपूर्वक देनी पड़ती है।

अंतिम तीर्थंकर का युग वक्र-जड़ है। इस युग का चित्त

इतना जटिल है, कि जो भी उसे बताया जाये, वह उसे सरलता से नहीं, वक्रता से पकड़ता है। वह उस साधना-विधान में से तर्कपूर्ण रास्ते खोजता रहता है। इस दृष्टि से उसे स्पष्ट विस्तारपूर्वक विधान दिया जाता है।

शेष बाईस तीर्थंकरों का युग ऋजु प्राज्ञ होता है। सरल भी और ग्रहणशील भी। जितना उसे बताया जाए, उसे शब्दात्मक, भावात्मक सब तरह से आशयपरक अर्थ ग्रहण करता। इसलिए उसे दिया गया संक्षिप्त साधना-विधान भी पर्याप्त होता है।

चतुर्यात्मक धर्म-साधना और पंच महाव्रतात्मक साधना-व्यवस्था के पीछे प्रमुखतः यही दृष्टिकोण है। यह मात्र व्यवस्थापरक भेद है, साधनापरक दृष्टि से दोनों एक ही हैं। कोई भी अन्तर नहीं है।

गौतम के इस उत्तर से सारी परिषद् को सन्तोष हुआ। तब श्रमण केशीकुमार ने दूसरा प्रश्न उठाया—

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो
देसियो वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा,
एक कज्ज पवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं
लिंगे दुविहे मेहावि, कहं विपच्चओ न ते।

महामुनि वर्द्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था दी है, वह अचेलक है। महायशस्वी पार्श्व ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था दी है, वह सान्तर-उत्तर है, वर्ण आदि से विशिष्ट वस्त्र वाली है। एक ही उद्देश्य से हम चलते हैं। फिर यह भेद का क्या कारण है? मेधाविन्, वेष के इन दो प्रकारों में तुम्हें सन्देह कैसे नहीं होता?

गौतम ने कहा—**विन्नाणेण समागम्म धम्म साहण मिच्छियं** —विज्ञान से जानकर ही धर्म के साधनों की व्यवस्था दी जाती

है। लोकप्रत्यय, जीवन-यात्रा का निर्वाह तथा श्रमण-भाव ग्रहण, लोक में वेष-धारण के प्रमुखतः यही प्रयोजन हैं। इनकी व्यवस्था मात्र व्यवहार है। जबकि निर्वाण की वास्तविक साधना में तो निश्चय दृष्टि से उसके साधन ज्ञान, दर्शन, चरित्र ही है—"**नाणं च दंसणं चेव, चरित्रं चेव निच्छए।'**

केशी-गौतम की प्रश्न-उत्तर श्रृंखला लम्बी है। उत्तराध्ययन-सूत्र में इस प्रसंग पर पूरा एक अध्ययन ही वर्णित है। किंतु शेष सारे प्रश्न आध्यात्मिक तथा साधना के सन्दर्भ में हैं। ये दो प्रश्न और उत्तर ही प्रमुखतः परम्परा भेद की सूचना देते हैं। पर यह भी स्पष्ट है कि ये दोनों परम्परा-भेद अपने में असाधारण हैं। इन भेदों को सुलझा लेना कोई आसान काम नहीं था। यह गणधर गौतम की विलक्षण प्रतिभा तथा अनाग्रह-शील प्रज्ञा का ही परिणाम था कि बिल्कुल सहजता से दोनों पर्वतकाय भेद चुटकी भर में सुलझा लिए गए। श्रमण केशीकुमार का उदात्त चिन्तन भी इसमें पूरा सहयोगी बना। इस तरह पार्श्व-महावीर की गंगा-जमुना-धारा का संगम बना, जिसमें प्रयागराज की भूमिका गणधर गौतम ने निभाई। किन्तु यह संभव तभी बन पाया, जब केशी-गौतम अपनी परम्परा-ज्येष्ठता अथवा परम्परा-श्रेष्ठता में नहीं उलझे, दोनों ने ही साधना को आत्म-भूमिका पर प्रतिष्ठा दी, उस अध्यात्म-प्रतिष्ठा को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया। परिणामतः दोनों मुनि-श्रेष्ठों का यह मिलन-प्रसंग जैन-इतिहास का एक ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण अध्याय बन गया। गणधर गौतम के अमूल्य अवदान के लिए जैन परम्परा सदा-सदा ऋणी रहेगी।

अपने छोटे-छोटे परम्परा-भेदों में बैठा उलझा जैन समाज क्या केशी-गौतम संवाद से थोड़ा-बहुत भी सबक लेगा ?

भगवान महावीर—जीवन और दर्शन

भगवान महावीर जैन धर्म के चोबीसवें तीर्थंकर हैं। पहले तीर्थंकर हैं भगवान ऋषभदेव, तेईसवें तीर्थंकर हैं भगवान पार्श्वनाथ और अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर विश्व-इतिहास में ज्योतिर्मय महापुरुष के रूप में स्वीकार किए जा चुके हैं। बाइसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि तक भी इतिहास की रोशनी पहुंचने लगी है। भगवान ऋषभदेव प्राग्-ऐतिहासिक हैं जिनका वर्णन जैन-साहित्य में तो मिलता ही है, विश्व के प्राचीन वेद-साहित्य में भी आपका स्मरण बड़ी श्रद्धा के साथ अवतार पुरुष के रूप में किया गया है।

भगवान महावीर का जन्म ईसा-पूर्व ५९९ वर्ष, ३० मार्च, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वैशाली गणतन्त्र के अन्तर्गत क्षेत्रिय-कुण्ड ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम सिद्धार्थ तथा माता का नाम त्रिशला था।

भगवान महावीर जब मां के गर्भ में आए, तब से ही उस महान् आत्मा का महान् प्रभाव प्रकट होने लगा। राज्य में समस्त प्रकार की समृद्धि बढ़ने लगी, धन-धान्य की वृद्धि, व्यापार में वृद्धि, राज-कोष में वृद्धि, राज्य की सीमाओं पर शांति-मैत्री में वृद्धि। सब प्रकार की अभिवृद्धि को देखकर माता-पिता ने राजकुमार का नाम रखा वर्द्धमान। वर्द्धमान बचपन से ही अभय-निर्भय थे। कैसी भी कठिन परिस्थितियां

सामने हों, वे घबराते नहीं थे। इसलिए उनके मित्रगण उन्हें 'वीर' कहने लगे।

बाल्यावस्था में वर्द्धमान को पढ़ने के लिए पाठशाला भेजा गया। किन्तु अध्यापक ने देखा कि यह राजकुमार तो स्वयं ही विशिष्ट ज्ञानवान हैं। इसको पढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। इतना ही नहीं, उपाध्याय ने अपने जटिल प्रश्नों का समाधान भी वर्द्धमान से पाया। उनके इस विशिष्ट ज्ञान के कारण उपाध्याय ने उनका नाम रखा 'सन्मति'। किन्तु इतिहास में वे महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए। अपने साधना-काल में उन्होंने भयंकर कष्टों को समभावपूर्वक सहन किया, इसलिए जन-जन के मुख से 'महावीर' नाम से वे सम्बोधित हुए।

तीस वर्ष की उम्र में आपने राजमहलों का सुख-वैभवपूर्ण जीवन त्याग कर तपोमय साधना का रास्ता लिया। एकाकी, बाहर भीतर से दिगम्बर, जंगलों में अथवा खण्डहरों में, तपस्या तथा योग-साधना में लीन महावीर का वह साढ़े बारह वर्षों का साधना-जीवन भयंकर उपसर्गों एवं रोंगटे खड़े कर देने वाले कष्टों का जीवन्त इतिहास है। इस कठोर जीवन का उद्देश्य प्रमुखतः आत्म कल्याण तो था ही किन्तु जन-कल्याण भी उनके साथ अग्नि-रूप से जुड़ा हुआ था। महावीर स्वयं तो बन्धनों से मुक्त होना ही चाहते थे, किन्तु जन-जन को भी बन्धनों से मुक्त करना चाहते थे। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण महासती चन्दनबाला है।

उस समय का समाज दास-प्रथा के सींकचों में बुरी तरह से कैद था। एक दास या दासी का जीवन पशुओं से भी बदतर होता था। चन्दनबाला अंग-देश की थी। युद्ध में राजा दधिवाहन पराजित हो गया। सेनापति ने महारानी और राजकुमारी को बन्दी बना लिया। महारानी ने अपनी शील-रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। सेनापति के मन पर

इस घटना का गहरा असर हुआ। उसने राजकुमारी को दासी के रूप में बेच दिया, जो एक धर्मपरायण सेठ द्वारा खरीद ली गई।

इधर भगवान महावीर का तपोनिष्ठ साधना-काल चल रहा था। इसी क्रम में आपने एक बार मन ही मन उग्र संकल्प लिया कि अत्यन्त दीन-हीन अवस्था में, दासी के रूप में बिकी राजकुमारी के हाथ से ही मेरी तपस्या का पारणा होगा। महावीर प्रतिदिन भिक्षा के लिए शहर में आते और वापस खाली हाथ लौट जाते। नगर के लोग हैरान थे। इस तरह पांच महीने और पच्चीस दिन गुजर गए। तभी एक दिन पूरा आकाश-मण्डल 'अहो दानं' की मधुर घोषणा से गूंज उठा। लोगों ने जाना कि महावीर की तपस्या का पारणा एक दासी के हाथ से हुआ है। महारानियां, राजकुमारियां, श्रेष्ठि पत्नियां सभी उस दासी के भाग्य की सराहना करने लगीं, जिसके हाथों से तीर्थंकर महावीर के तप का पारणा हुआ। महावीर ने तपोबल से एक दासी को सम्पूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा ही नहीं दिलवाई, छत्तीस हजार साध्वियों के संघ का नेतृत्व उसे सौंप कर दासी-प्रथा को चूर-चूर कर दिया। इतिहास साक्षी है, भगवान महावीर पहले युग-पुरुष हैं जिन्होंने इस देश को दास-प्रथा के कुटिल चंगुल से मुक्त किया।

इस कठोर साधना काल में चण्डकौशिक जैसे महा-विषधारी सर्प द्वारा डसा जाना, संगम देवता द्वारा एक ही रात में बीस मरणान्तिक कष्ट देना, बौछार करना, जंगली कुत्तों को पीछे लगा देना, तथा जासूसी के आरोप में फांसी के तख्ते पर चढ़ा देना, आदि अनेक प्रकार से महावीर की तितिक्षा-समता, अहिंसा, करुणा, ध्यान-योग और वीतरागता की कठोर परीक्षाएं हुईं, जिनमें महावीर अग्नि में तपे हुए सोने के समान अधिक तेजो-दीप्त होकर निकले। उनके लिए

बन्धन और वन्दन, पूजा और पीड़ा, उपसर्ग और उपासना, सम्मान और अपमान, यातनाएं और भक्तिपूर्ण भावनाएं सब एक समान थे। इसी वीतरागता ने आपको अनन्त-ज्ञान के शिखर पर आरूढ़ किया। परिणामत: लगभग साढ़े बयालिस वर्ष की उम्र में, जंभिय गांव के बाहर, ऋजुलिका नदी के तट पर, शाल वृक्ष के नीचे, बैशाख शुक्ला दसमी के दिन, चौथे पहर में, उकड़ू आसन में भगवान महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। अज्ञान के सारे आवरण हट गए, अज्ञान का अंधकार छंट गया, अनन्त-अनन्त ज्ञान-रश्मियों को अपने में समेटे कैवल्य का सूर्य उदित हो गया। इधर सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था, उधर कभी अस्त न होने वाले ज्ञान-सूर्य का उदय हो रहा था।

धर्म तीर्थ-प्रवर्तन

केवल-ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर जन-जन के कल्याण और अभ्युदय के लिए भगवान महावीर ने मध्यम पावा में धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। उन्होंने साधु-साध्वी, श्रावक तथा श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना की। इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए। तीर्थंकर का अर्थ है तीर्थ की स्थापना करने वाला। यहां तीर्थ का अर्थ काशी, प्रयागराज अथवा सम्मेदशिखर, पालीताणा आदि लौकिक तीर्थों से नहीं है। यहां तीर्थ है अहिंसा, सत्य आदि की साधना द्वारा अपनी आत्मा को ही तीर्थ बनाना। तीर्थ का शब्दार्थ है जहां से नदी की धारा को आसानी से पार किया जा सके। **तीर्थते अनेन इति तीर्थः**। तीर्थ का पर्यायवाची घाट भी है। नदी के किनारों पर घाट होते हैं। जहां से धारा को पार करना सुगम होता है। महावीर ने कहा—अपनी आत्मा को ही घाट बनाया जाए। जहां से इस संसार की दुःख-धारा को पार कर परमात्मा तक पहुंचा जा सके।

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। सनातन धर्म चौबीस अवतारों को मानता है। अवतार का अर्थ है धर्म की रक्षा तथा अधर्म के नाश के लिए स्वयं भगवान का शरीर धारण करना। तीर्थंकर अन्य संसारी आत्माओं की तरह जन्म लेते हैं, साधना तपस्या के द्वारा कर्म आवरणों को दूर करते हैं, फिर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करने पर तीर्थंकर कहलाते हैं। अवतारवाद ईश्वर से मनुष्य तक की यात्रा है, तीर्थंकरवाद मनुष्य से परमात्मा तक की यात्रा। अवतार और तीर्थंकर की अवधारणा में प्रमुख यही अंतर है। किन्तु इसमें कोई अन्तर नहीं कि दोनों ही अतिशय-सम्पन्न विशिष्ट परम आत्म पुरुष होते हैं तथा दोनों ही अज्ञान-अन्धकार में भटकती मानव-जाति का ज्योतिर्मय मार्ग-दर्शन करते हैं।

मानव-जाति को सन्देश

भगवान महावीर के संदेश में प्रमुखतः पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा है। उन्होंने कहा—ईश्वर या भाग्य के भरोसे बैठे रहना नितांत कायरता है। परमात्मा हमारा आदर्श है। अपने सुख-दुःख के लिए जिम्मेवार ईश्वर नहीं, हम खुद हैं। अपने भाग्य का निर्माता हम स्वयं हैं। जैसा हमारा पुरुषार्थ होगा, वैसा ही हमारा भाग्य होगा। आत्मकर्तृत्व और पुरुषार्थ के इस सन्देश ने ईश्वरवाद और भाग्यवाद में फंसे देश को नव-निर्माण का क्रान्तिकारी उद्बोधन दिया।

पुरुषार्थ की दिशा सही हो, इसके लिए भगवान ने उसके आधार में अहिंसा की दृष्टि दी। आपने कहा—सबको जीवन प्रिय है। मरण कोई नहीं चाहता। इसलिए किसी का प्राण-हरण करना पाप है। किन्तु महावीर की हिंसा केवल प्राण-हरण तक ही सीमित नहीं है। उनकी दृष्टि में मन-वाणी और कर्म से किसी को दुःख देना भी हिंसा है, किसी पर हुकूमत करना भी हिंसा है, गुलाम बनाना भी हिंसा है, औरों का हक

छीनना, शोषण करना भी हिंसा है, औरों की उपेक्षा भी हिंसा है। महान विचारक अल्बर्ट श्वाइत्जर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Reverence for life में भगवान महावीर के इस अहिंसा विवेचन के प्रति बड़ी श्रद्धा तथा सम्मान प्रकट किया है। संक्षेप में समतामूलक पुरुषार्थ ही व्यक्ति के लिए अनन्त आनन्द का द्वार बन सकता है।

विचार-जगत को भगवान महावीर की देन है अनेकान्त-दर्शन। महावीर के दर्शनों में एकान्त आग्रह को कहीं स्थान नहीं है। भगवान महावीर की स्पष्ट उद्घोषणा है, जहां आग्रह है वहां सत्य नहीं है और जहां सत्य है वहां किसी प्रकार का आग्रह नहीं हो सकता। सत्य के अनन्त पहलू हैं। अनन्त दृष्टियां मिलकर ही एक सम्पूर्ण सत्य का निर्माण करती है। इसलिए एक दृष्टि को ही सम्पूर्ण सत्य मान लेना गलत होता है। उदाहरण के लिए दूध किसी के लिए पुष्टिकर होता है, तो किसी के लिए हानिकारक भी हो सकता है। पर दोनों का कथन अपनी-अपनी जगह सही है। इस प्रकार हमारा हर कथन सापेक्ष होता है। अपनी दृष्टि से वह सम्यग् होता है। किन्तु दूसरे का कथन भी उसकी दृष्टि से उतना ही सम्यग् होता है। इस विभिन्न दृष्टियों से सत्य का प्रतिपादन ही अनेकान्त-दर्शन है। महावीर के इस चिंतन की तुलना आधुनिक विज्ञान के मसीहा अल्बर्ट आइस्टीन की Theory of relativity से की जा सकती है। भगवान महावीर किसी भी मतवाद के खंडन-मंडन में तो गए ही नहीं, इस अनेकान्त-दर्शन के माध्यम से इन्होंने तत्कालीन समस्त विचार-धाराओं को सत्य की भूमिका पर अधिष्ठित किया। उस युग में तीन सौ तिरेसठ प्रकार के मतवाद प्रचलित थे। आपसे पूछा गया, इन विचार-धाराओं में कौन सत्य है, और कौन असत्य। आपने कहा—ये सब सत्य हैं और असत्य भी। अगर इनके साथ आग्रह जुड़ा है

तो ये सब असत्य हैं। आग्रह नहीं हो तो ये सारी विचार-दृष्टियां सत्य के सागर तक पहुंच जाती हैं। महावीर के इस दर्शन ने न केवल सत्य के अनन्त आयामों को उद्घाटित किया, समस्त मतवादों को सम्मान देते हुए सर्व-धर्म-समन्वय की दिशा में एक क्रान्तिकारी दृष्टि दी। आचार्य विनोबा भावे महावीर के इस अनेकान्त-दर्शन के प्रति नत-मस्तक थे।

जन-कल्याण-यात्रा

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भगवान महावीर सर्व-जन-हिताय, सर्व-जन-सुखाय, जन-कल्याण यात्रा पर निकल पड़े। तत्कालीन समाज में फैले अन्ध-विश्वास और जड़तावाद पर आपने तीव्र प्रहार किया। धर्म को वर्गवाद-वर्णवाद, सम्प्रदाय-वाद और जातिवाद से निकालकर अध्यात्मिक भूमि का पर प्रतिष्ठित किया। चलर हे 'धर्म के नाम पर' नर बलि और पशु बलि रूप हिंसात्मक यज्ञों के स्थान पर आत्म यज्ञ की चेतना विकसित की। महावीर की तीर्थ-स्थापना में कुछ क्रान्ति-बिंदु इस प्रकार हैं—

भगवान ने जन-भाषा में धर्म का उपदेश दिया। इससे पहले धर्म-उपदेश केवल संस्कृत में होता था। संस्कृत का अध्ययन नारी-समाज तथा साधारण जन के लिए निषिद्ध था। केवल उच्च वर्ग ही संस्कृत का अधिकारी था। और धर्मोपदेश संस्कृत में ही हो सकता था। इसका अर्थ था धर्म का भी उच्च वर्ग तक सीमित हो जाना। महावीर ने जन-भाषा में उपदेश देकर धर्म को जन-साधारण तक पहुंचाया।

अपने धर्म तीर्थ में आपने पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी समान अधिकार दिए। जबकि उस समय की धर्म-परम्परा में स्त्रियों के लिए धर्म-शास्त्र का श्रवण वर्जित था। अगर कोई स्त्री ऐसा कर लेती तो यह दण्ड-विधान था कि उसके कानों में

गरम-गरम शीशा उंडेल दिया जाये। उस दासता की बन्धन धारा से निकालकर आपने परिवार, समाज तथा धर्मक्षेत्र में नारी-जाति को सम्पूर्ण प्रतिष्ठा दी। जातिवाद का अस्वीकार करते हुए आपने अपने धर्म-तीर्थ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथ शूद्रों को समान रूप से स्थान दिया। ब्राह्मण क्षत्रियों की तरह अनेक शूद्रों ने आपके साधु-संघ में महिमापूर्ण पद पाया।

जाति की तरह ही धर्म के आधार पर खड़े किए गए ऊंच-नीचता के मूल्यों को भी आपने तोड़ा। श्रमण-संघ में दीक्षित होने के बाद न कोई ब्राह्मण है, न कोई शूद्र, न कोई राज-कुमार है न कोई चमार, न कोई अमी[illegible] कोई गरीब। इसलिए एक पूर्व दीक्षित जाति के मुनि को [illegible] क्षित क्षत्रिय-पुत्र द्वारा वन्दना की जाती।

इस प्रकार भगवान महावीर ने तत्कालीन धर्म, समाज तथा राज्य-व्यवस्था को एक क्रांतिकारी मोड़ दिया। परि-णामतः अनेक राजे-महाराजे, पण्डित-पुरोहित, श्रेष्ठ-पुत्र तथा जन-साधारण लाखों की संख्या में आपके धर्म-तीर्थ में शामिल हुए।

लगभग तीस वर्ष तक आध्यात्मिक मूल्यों की गंगा बहाते बहत्तर वर्ष की उम्र में ईसा पूर्व ५२७ वर्ष, कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन आप मध्यम पावा में निर्वाण प्राप्त हो गए। एक महान ज्योति सहसा अनन्त में विलीन हो गई। धरती पर बाहर भीतर सर्वत्र अन्धकार छा गया। धरती-वासियों के लिए वह अन्धकार जैसे असह्य हो गया। घर-घर में दीपक जल उठे। उस परम ज्योति की स्मृति में सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैल गया। तब से दीपावली के रूप में वह ज्योतिर्म रात्रि में आज भी ज्योति की प्रेरणा दे रही है।

ˉ ़नि रूपचन्द्र का
≺ प्रकाशित साहित्य

(1) अंधा चांद
(2) कला अकला
(3) खुले आकाश में
(4) अर्ध विराम
(5) इन्द्र धनुष
(6) गुलदस्ता
(7) भूमा
(8) भीड़ भरी आंखें
(9) दीवारें ही दीवारें
‘10) किस सम्बोधन से पुकारूं भगवान महावीर
(12) तलाश एक सूरज की
(13) खिड़की खोल दो तुम
(14) सुना है मैंने आयुष्मन्
(15) मार्क्स-महावीर और गांधी
(16) मैं कहता आंखन-देखी
(17) प्रीत नहीं की प्रभुवर से
(18) The world within: the world without
(19) वो क्या जाने पीर पराई
(20) अहिंसा है जीवन का सौन्दर्य